हिन्दी आलोचना और देवीशंकर अवस्थी

विशेष संदर्भ : 'रचना और आलोचना'

HINDI CRITICISM AND DEVISHANKAR AWASTHI

WITH SPEACIAL REFERENCE TO 'RACHNA AUR AALOCHNA'

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एम.फिल् (हिन्दी)
उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक
डॉ. रामचन्द्र

शोधार्थी
दीना नाथ मौर्य

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2010

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Language
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, India

Date : 28-07-10

DECLARATION

I declared that the work done in this Dissertation entitled **"HINDI AALOCHNA AUR DEVISHANKAR AWASTHI (VISHES SANDARBH : 'RACHNA AUR AALOCHANA') HINDI CRITICISM AND DEVISHANKAR AWASTHI (WITH SPECIAL REFERENCE TO 'RACHNA AUR AALOCHANA')"** submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree or any other University/Insitution.

DINA NATH MAURYA
(Research Scholar)

23.07.10
DR. RAMCHANDRA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. KRISHNASWAMY NACHIMUTHU
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE
& CULTURE STUDIES, JNU
New Delhi-110067

यशःशेष

डॉ. बाबू

की स्मृतियों के साथ...

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका i-vi

प्रथम अध्याय : हिन्दी आलोचना का विकास 1–36

1.1 आलोचना की जरूरत

1.2 साहित्य और सामाजिक मूल्य

1.3 हिन्दी आलोचना का स्वरूप

द्वितीय अध्यायः देवीशंकर अवस्थी और तत्कालीन हिन्दी आलोचना 37–65

तृतीय अध्याय : देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का स्वरूप एवं महत्व 66–126

3.1 सैद्धान्तिक आलोचना

3.2 व्यावहारिक आलोचना

उपसंहार 127–131

ग्रंथानुक्रमणिका 132–138

भूमिका

साहित्य में जिसे आलोचना कहा जाता हैं वह व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले निन्दा शब्द से भिन्न हैं। निन्दा में किसी व्यक्ति, वस्तु और स्थिति के किसी एक पक्ष की कमजोरी को ईर्ष्या भाव के साथ बढ़ा चढ़ा कर पेश किया जाता है। जबकि आलोचना में किसी साहित्यिक कृति का सम्यक विवेचन-विश्लेषण होता है। जहाँ निन्दा में दूसरे को छोटा दिखाने की भावना निहित होती है। वही आलोचना शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थों में ही सम्यक दृष्टि की धारणा को स्पष्ट करता है। फिर इस सम्यक दृष्टि का संबंध यदि साहित्य और कला के विकास से जुड़ा हो तो उसके फलदायी पक्ष पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। अब अगर ब्रेख़्त होते तो आज भी कहते-

"नदी से नहर निकालना
फलदार पेड़ लगाना
किसी इंसान को शिक्षित करना
किसी राज्य का कायाकल्प करना
फलदायी आलोचना के ये उदाहरण हैं,
और साथ ही कला के उदाहरण भी।"

रस की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि निंदा करने में जिस तरह 'निंदारस' का सुख मिलता है उसी तरह आलोचना में 'बुद्धिरस' का। इस 'बुद्धिरस' का संबंध विचार और विवेक से होता है। मानव सभ्यता के विकास क्रम की ऐतिहासिक अवस्था में विचार और विवेक की संपन्नता सांस्कृतिक उन्नति की परिचायक होती है। साहित्य इस सांस्कृतिक गतिविधि का अंग होता है और आलोचना उसे मूल्यांकित करने वाली प्रक्रिया। अतः किसी भाषा के साहित्य की आलोचना के स्वरूप की पहचान अथवा किसी आलोचक की आलोचना दृष्टि की खोज का अर्थ है उस भाषा के साहित्य की परम्परा में निर्मित सांस्कृतिक दृष्टि और विचारशीलता के उस रूप को जानना जो

अपने समय की मूल्य-चिन्ता के क्रम में साहित्यिक कृतियों के विवेचन-विश्लेषण का मानक बनकर आयी है। हिन्दी आलोचना की परम्परा और उसके विकास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि सांस्कृतिक दृष्टि और विचारशीलता में युग सापेक्ष परिवर्तन हुआ करते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास का वह दौर जिसे विजयदेव नारायण साही ने 'छठवां दशक' कहा है। कला और साहित्य के वैचारिक मतान्तर और रचनात्मक वैविध्य के लिए जाना जाता है। इस समय जिस तरह का सांस्कृतिक स्वरूप बन रहा था उसके निर्माण में दो कारकों का योग महत्वपूर्ण है। जिसमें से पहला महत्वपूर्ण कारक देश की आजादी का यथार्थ है और दूसरा, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घट रही घटनाओं की निर्णायक भूमिका। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति, भारत का औपनिवेशिक सत्तातंत्र से मुक्ति और चीनी कृषक क्रांति ने इस दौर के बौद्धिक जगत में भूचाल लाने का काम किया। इस समय के समूचे सांस्कृतिक परिवेश में आधुनिक विज्ञान और बौद्धिकता का दबाव दिखायी पड़ता है। इन सब स्थितियों का प्रभाव इस दौर की हिन्दी आलोचना पर भी पड़ा। वैज्ञानिकता के आगमन से बदलते हुए जीवन-मूल्यों के अहसास ने जहाँ उसे आधुनिक बनाया, वहीं बौद्धिकता ने उसे एक तर्कपूर्ण सचेतनता दी। यह सचेतनता उसे यथार्थवादी वस्तुगत दृष्टि देती है जिससे इस समय का आलोचक हर एक चीज़ का बारीक अवलोकन और सूक्ष्म विश्लेषण करता है। यह दृष्टि उसकी विवेकशीलता की परिचायक है। कहना गलत न होगा कि जिसे इस युग की विवेकशीलता के रूप में चिन्हित किया जाता है वह उस समझ का नाम है, जो किसी वस्तु को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने और ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करती है।

देवीशंकर अवस्थी का आलोचना-कर्म आजादी के तुरंत बाद की उत्तर-औपनिवेशिक स्थितियों में होने वाले नवीन बदलावों के साथ शुरु होता है। और उनका आलोचनात्मक विवेक इसी 'छठवें दशक' के जटिल साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश में विकसित हुआ, फिर यह भी अकारण नहीं है कि वे आलोचना में विवेक को बहुत महत्त्व देते हैं।

देवीशंकर अवस्थी की पुस्तक 'रचना और आलोचना' प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध का आधार ग्रंथ है। इसमें उनकी आलोचना दृष्टि का केन्द्रीय मुद्दा रचना और आलोचना के संबंधों का विश्लेषण करना है, जिसे उन्होंने 'आलोचना का द्वंद्व' कहा है। रचना और आलोचना के संबंध क्या होते है? रचनाकार और आलोचक की भूमिकाओं की भिन्नता कहां से तय होती है? जब प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना कहते हैं तो फिर आलोचना क्या है? ऐसी प्रश्नाकुलता एक प्रबुद्ध आलोचक को ही नहीं सचेत पाठक को भी बेचैन करने वाली है। अवस्थी जी ने प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं प्रश्नों पर विचार किया है - सिर्फ सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं, रचनात्मक साहित्य के साथ सिद्धान्तों का व्यावहारिक रिश्ता बनाकर भी। प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में आलोचना के इस नवीन प्रयास को परंपरा और समकालीन संदर्भ की सीमाओं के साथ देखने पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

लघु शोध-प्रबंध में तीन अध्याय हैं।

पहला अध्याय- "हिन्दी आलोचना का विकास' है। इस अध्याय में देवीशंकर अवस्थी के पूर्व की हिन्दी आलोचना के विकास को समझने का प्रयास किया गया है। यह अध्याय तीन उप-अध्यायों में विभक्त है। पहला उप-अध्याय 'आलोचना की जरूरत' है। जिसमें रचनाशीलता और आलोचना के आपसी संबंधों के साथ आलोचना की ऐतिहासिक जरूरत को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय उप-अध्याय 'साहित्य और सामाजिक मूल्य' शीर्षक में हिन्दी आलोचना के संदर्भ में सामाजिक मूल्यों तथा साहित्यिक मूल्यों को उनकी द्वन्द्वात्मकता के साथ विश्लेषित किया गया है। तृतीय उप-अध्याय 'हिन्दी आलोचना का स्वरूप' है। इसमें हिन्दी आलोचना की परंपरा में निर्मित सांस्कृतिक दृष्टि और विचारशीलता की महत्ता तथा सीमाओं को उसके अन्तर्विरोधों के साथ विवेचित करने की कोशिश की गयी है।

द्वितीय अध्याय - 'देवीशंकर अवस्थी और तत्कालीन हिन्दी आलोचना' है। इस अध्याय में देवीशंकर अवस्थी की समकालीन आलोचना के साथ संबंध, रचना और आलोचना के बदलते आपसी रिश्ते तथा आलोचना की केन्द्रीय चिंता के बिन्दुओं को पहचानने का

प्रयास किया गया है। नवीन साहित्य के मूल्यांकन में देवीशंकर अवस्थी समीक्षा के सूत्रों का चुनाव कहाँ से कर रहे थे और उनकी मूल्य-चिंता तत्कालीन आलोचना के संदर्भ में कितनी भिन्न और विशिष्ट थी, इसे युगीन सीमाओं के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय - 'देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का स्वरूप एवं महत्त्व' है। यह अध्याय दो उप-अध्यायों में विभक्त है। पहले उप-अध्याय 'सैद्धान्तिक आलोचना' में देवीशंकर अवस्थी की साहित्य और आलोचना संबंधी मान्यताओं तथा नवीन साहित्य के प्रति उनकी मूल चिंता को स्पष्ट किया गया है। दूसरे उप-अध्याय 'व्यावहारिक आलोचना' में आधार-ग्रंथ 'रचना और आलोचना' में संकलित पुस्तक समीक्षाओं के आधार पर देवीशंकर अवस्थी की रचना-विश्लेषण पद्धति के साथ उनकी आलोचना दृष्टि की महत्ता को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में ज्यादातर प्राथमिक स्रोतों का उपयोग किया गया है। भारतेन्दु युग और द्विवेद्वी युग की आलोचना पर चर्चा के दौरान कुछेक उद्धरणों को प्राथमिक स्रोतों की उपलब्धता के बावजूद नहीं देखा जा सका, (क्षमा प्रार्थी हूँ) उन्हें द्वितीयक स्रोतों से ग्रहण कर टिप्पणी के साथ संदर्भ-संकेत में यथास्थान स्पष्ट कर दिया गया है।

इस शोध-कार्य के दौरान जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी तथा हिन्दुस्तानी अकादमी के पुस्तकालयों से शोध-कार्य से संबंधित पुस्तकें प्राप्त हो सकीं। इन पुस्तकालयों के कर्मचारियों और अधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरे इस कार्य में सहायता की।

अपने शोध-निर्देशक डॉ. रामचन्द्र के प्रति सम्मान के साथ आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे स्नातक के दिनों से ही स्वतंत्र रूप से सोचने-समझने के लिए प्रेरित किया। शोध-कार्य के दौरान उन्होंने बड़ी आत्मीयतापूर्वक समय-समय पर आवश्यक

सुझाव के साथ अभिभावकीय दायित्व का भार भी लिया। मैं इनके सहयोग और आशीर्वाद की अपेक्षा करता हूँ।

जे.एन.यू. का आजीवन ऋणी हूँ जिसने मुझे पढ़ाया-बढ़ाया ही नहीं, बल्कि जहाँ से मैंने चीजों को उनके सही नाम से पुकारना भी सीखा।

पंकज, अवधेश और श्रवण मेरे साथ न रहते हुए भी अपने मित्रधर्म का निर्वाह करते रहे। इन लोगों को धन्यवाद न देकर मैं भी अपने मित्रधर्म का निर्वाह करता हूँ।

मित्र और सहपाठी उमाशंकर ने शोधकार्य के दौरान अत्यन्त आवश्यक सामग्री उपलब्ध करायी। कोरा धन्यवाद उनके लिए काफी नहीं होगा।

अमीष सर अपनी अत्यंत व्यस्तता के बावजूद मुझे शोध–कार्य की गम्भीरता के प्रति सचेत ही नहीं करते रहे बल्कि लघु शोध-प्रबंध को अंतिम रूप देने में मेरे साथ रहे। बृजेश जी के साथ हिन्दी आलोचना तथा साहित्य के विविध पक्षों पर हुई बातचीत ने शोध-कार्य को आसान बनाया। इस दौरान मैंने इन लोगों को परेशान किया, पर सहयोग के लिए आभार और गलतियों के लिए क्षमा के प्रस्ताव का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता।

मार्तण्ड, रवि, उदय, अभिषेक, चन्द्रकांत, प्रवीण, आलोक, अनिरुद्ध, अरविन्द, जीतेन्द्र, मीनाक्षी और लता से समय -समय पर सहयोग मिला। मेरी सीनियर सुरभि त्रिपाठी ने शोध संबंधी आवश्यक सुझाव दिया। उम्मीद है वे लोग इसी तरह से अपना सहयोग और समर्थन बनाए रखेंगे। व्योम और प्रकाश ने भी अपना फर्ज अदा किया। अशोक जी ने धैर्य के साथ समय पर टाइपिंग का काम पूरा किया। इन लोगों का आभारी हूँ।

अनिल दिल्ली विश्वविद्यालय में रहे(?) गैर मौजूदगी खली, लेकिन उन्होंने समय पर अपना दायित्व निभाया।

शोध-कार्य के दौरान बड़ी दीदी अनिल कुमारी और जीजा जी का स्नेह बना रहा। आर.के.भाई साहव के सानिध्य का अभाव खला। स्वामीनाथ, शीला, मीरा, रीता, शिल्पा की निश्छल हरकतों ने मेरे तनाव को कम किया। घर से दूर रहा पर, घरवालों की आत्मीयता मेरे साथ रही। दूरी को पाटने में फोन बड़ा काम आया।

अम्मा-बाबू के प्रति आभार प्रकट करने की न तो मुझमें शक्ति है न साहस। उन्होंने जिस धैर्य तथा संघर्ष के साथ मुझे बनाया, पढ़ाया उस पर मुझे गर्व है। इनके विश्वास और आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।

15 जुलाई, 2010

दीना नाथ मौर्य

127, ओल्ड ब्रंहमपुत्रा छात्रावास
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

प्रथम अध्याय

हिन्दी आलोचना का विकास

1.1 आलोचना की जरूरत

1.2 साहित्य और सामाजिक मूल्य

1.3 हिन्दी आलोचना का स्वरूप

हिन्दी आलोचना का विकास

किसी समय की रचनाशीलता व्यापक सांस्कृतिक गतिविधि का अनिवार्य अंग होती है और आलोचना उस गतिविधि को मूल्यांकित करने वाली रचनात्मक प्रक्रिया। सौंदर्य की कोटियों का निर्माण समाज और संस्कृति के गतिशील जीवन के-बीच होता है जिन पर विविध रूपों में जीवन की मूलभूत इकाईयों में आने वाले बदलावों का प्रभाव पड़ता है। अतः हिन्दी आलोचना के विकास के अध्ययन में साहित्य और समाज के संबंधों के विश्लेषण का प्रश्न आलोचना की ऐतिहासिक जरुरत से जुड़ा हुआ है। हर समय और समाज में साहित्यिक रचनाशीलता अन्तर्वस्तु के साथ-साथ रूप और संगठन के स्तर पर भी भिन्न तथा विशिष्ट होती है। आलोचना का प्राथमिक कार्य इस भिन्नता और विशिष्टता की पहचान करना है। किसी कृति के मूल्यांकन में आलोचक की अपनी मूल्य-चिंता (जिसे उसकी विचारधारा कहा जाता है) होती है। आलोचक इसी के साथ साहित्य में निहित जीवन और जगत से कृति के प्रच्छन्न संबंध की पड़ताल करता है वह रचना में मौजूद कवि/लेखक को उसके समस्त अनुभवों के साथ पकड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि – "रचना के मूल्यांकन के लिए मूल्य चेतना जरूरी है और इस मूल्यचेतना के लिए सामाजिक चेतना। इस प्रकार आलोचनात्मक विवेक के मूल में आलोचक का सामाजिक विवेक होता है जो बहुत दूर तक वर्तमान के बोध से जुड़ा होता है और इसी विवेक के सहारे आलोचक अतीत की रचनाओं का मूल्यांकन करता है और समकालीन साहित्य का भी। इसीलिए आलोचना व्यापक रूप में विचारधारात्मक कला है।"[1] साहित्य के विकास में इस 'विचारधारात्मक कला' का क्या योग और महत्व है? इसी प्रश्न के उत्तर में आलोचना की जरूरत भी स्पष्ट होती है।

1.1 आलोचना की जरूरत

आलोचना की जरूरत पर विचार करते हुए निराला ने जुलाई 1933 ई. में 'सुधा' (लखनऊ) में लिखा–

---

1 'आलोचना की सामाजिकता', मैनेजर पाण्डेय, पृ. 34

"आलोचना साहित्य का मस्तिष्क है अतः साहित्य के विकास का श्रेय अनेक अंशों में इसे ही प्राप्त है। हृदय का महत्व लेकर निकलने वाली कविता भी यदि विचार और शृंखला सम्बद्ध नहीं है तो शैशव –संलाप की तरह भावोच्छवास मात्र है, उससे साहित्य को कोई बड़ी प्राप्ति नहीं हो सकती।"[2]

सार्थक आलोचना केवल लिखित साहित्य का विवेचन–विश्लेषण ही नहीं करती वह अतीत के मूल्यांकन क्रम में भविष्योन्मुखी दृष्टि लेकर चलती है। केवल भावुक टिप्पणियों का प्रभाव क्षणिक होता है जबकि विवेकपूर्ण चिंतन की उपज आलोचना सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया को गति प्रदान करने वाली होती है, इसीलिए निराला आलोचना में मात्र भाव या संवेदना को ही महत्त्व नहीं देते हैं वे विचार की भी चर्चा करते हैं। नामवर सिंह इसी रूप में आलोचना को अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति कहते हैं।

साहित्य का अध्ययन परिस्थितियों के सम्यक ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, रचना प्रक्रिया का निर्माण परिस्थितियों की जटिलताओं के बीच ही होता है। अतः सार्थक आलोचना का यह गहन दायित्व होता है कि वह साहित्य के विवेचन–विश्लेषण–मूल्यांकन के क्रम में रचना प्रक्रिया पर भी ध्यान दे, सौंदर्य के मूल्यों की सामाजिक सापेक्षता का सही आकलन रचना–प्रक्रिया को समझकर ही किया जा सकता है। अपने इस दायित्व की पूर्ति में ही आलोचना पाठक को 'सिद्धावस्था' से 'साधनावस्था' तक की यात्रा कराती है। आलोचना का यह संघर्ष हिन्दी आलोचना के विकास क्रम के साथ विविध रूप धारण करता है, आलोचना की जरूरत इस संघर्ष से अलग नहीं, बल्कि साहित्य की जरूरत और उससे बढ़कर समाज में प्रगतिशील मूल्यों की जरूरत से जुड़ा हुआ है। आलोचना की जरूरत के कई रूप हिन्दी आलोचना में विकसित हुए हैं, साहित्य में मूल्यों की खोज और साहित्य की महत्ता को स्वीकारने अथवा उसे केवल सौंदर्य मात्र सीमित मानने का फल ही है कि भारतेन्दु युग से लेकर

---

2 'आलोचना के सौ बरस', (सं.) अरविन्द त्रिपाठी, पृ. 267

समकालीन हिन्दी आलोचना की ऐतिहासिक जरूरत एक ही नहीं रही। विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों और गद्य के रूपों का विवेचन–विश्लेषण और मूल्यांकन युग सापेक्ष साहित्यिक दृष्टि के विकास के रूप में हुआ। कहना न होगा यह साहित्यिक दृष्टि कोरी साहित्यिकता भर ही नहीं थी यह सामाजिक दृष्टि भी थी, और विस्तार पूर्वक कहें तो यह युग की 'विश्व–दृष्टि' के समान ही विकसित हुई है।

भारतेन्दु युग जिसे पुनर्जागरण का काल माना जाता है, रचना की विविधता के साथ (विषयों/विधाओं की विविधता का भी) मूल्यों एवं मूल्यांकन की विविध प्रणालियों के विकास का भी काल है। इस काल में साहित्य के मूल्यांकन में आलोचना नामक विधा की क्या जरूरत थी? यह हमें बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की व्यावहारिक समीक्षाओं से पता चलता है। 'साहित्य को जन समूह के हृदय का विकास' मानने वाले बालकृष्ण भट्ट जब 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा करते हैं, तो वे लेखक से यह मांग करते हैं कि वह रचना वो समय–मात्र के भाव (Sprit of time) का ध्यान रखे तो प्रकारान्तर से यह आलोचना में ऐतिहासिक बोध और सांस्कृतिक समझ का प्रवेश था। भारतेन्दु युग में इसकी आवश्यकता थी कि साहित्य समाजहित, राष्ट्रहित और देश–प्रेम की भावना को जागृत करे अतः आलोचना में सामाजिकता का प्रवेश हमें भारतेन्दु युग में दिखायी पड़ता है। आलोचना रचनाशीलता की दिशा तय करती है। 'समालोचक के सत्कार्य' क्या हों? आदि प्रश्नों से महावीर प्रसाद जूझते ही नहीं हैं आलोचना को जनवादी मूल्यों की प्रवक्ता बनाने पर भी उनका जोर है। द्विवेदी युग में भाषा और भाव की समाजोन्मुखता और उनके मूल्यों की सांस्कृतिक–ऐतिहासिक जरूरत जो कि साहित्य में 'जागरण सुधार' के रूप में आती है वह हमें द्विवेदी युग की आलोचना में भी दिखायी पड़ती है। इस समय के काव्य में उपेक्षित पात्र ऐतिहासिक धरोहर के रूप में याद किए गए तो उसका महत्वपूर्ण श्रेय द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना को जाता है। 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख और 'साकेत' महाकाव्य इसका उदाहरण है। साहित्य के अध्ययन –अध्यापन में आलोचना की क्या

जरूरत और भूमिका होती है इसे बाबू श्याम सुन्दरदास ने कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया–

"साहित्य क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन और उसके संदर्भ में मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है, यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।"[3]

'साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या' यह धारणा साहित्य और जीवन के बीच रचना–प्रक्रिया के साथ आलोचना की प्रक्रिया को सम्बद्ध करती है। आलोचना का प्राथमिक कार्य गुण–दोष विवेचन हो सकता है पर यहीं पर उसकी जरूरत खत्म नहीं हो जाती वह रचना को सांस्कृतिक संदर्भ के साथ देखता है। मुक्तिबोध जब साहित्य की आलोचना को 'सभ्यता समीक्षा' कहते हैं तो उनका अभिप्राय साहित्य की प्रक्रिया को सांस्कृतिक प्रक्रिया के अभिन्न अंग के रूप में देखना ही होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को सामाजिक गतिशीलता से जोड़कर देखा और छायावाद के उस युग में आलोचना की जरूरत को सिर्फ 'गुण–दोष के विवेचन' से निकलकर 'अन्तर्वृत्ति के सूक्ष्म व्यवच्छेद' तक व्यापक बनाया। आलोचना की जरूरत छायावादी साहित्य में यदि उसे व्याख्यायित करने की थी तो तत्कालीन आलोचना उस पर कितने सही ढंग से विचार कर सकी यह विचार का विषय है। प्रगतिशील हिन्दी आलोचना में साहित्यिक प्रतिमान ही नहीं बदले, आलोचना की कसौटी में भी बदलाव हुआ। आलोचना अब वैचारिक–संघर्ष और 'वाद–विवाद–संवाद' के रूप में सामने आयी, लेकिन यह ध्यान में रखना होगा कि 'वैचारिक–संघर्ष' और 'वाद–विवाद–संवाद' बौद्धिकता से जुड़ी हुई क्रियाएँ हैं। इस रूप में बौद्धिक व्यवसाय के लिए बौद्धिक तैयारी का होना स्पष्ट है। "इस बौद्धिक तैयारी की कमी का प्रभाव

---

3 'साहित्यालोचन', श्यामसुन्दर दास, पृ. 205

आलोचना पर भी पड़ता है और रचना पर भी – पर आलोचना में वह बहुत प्रत्यक्ष होता है और रचना में तनिक भीतरी – जिसका कि उद्‌घाटन करना पड़ता है।"[4]

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि हिन्दी आलोचना के विकास क्रम में आलोचना की जरूरत समय सापेक्ष बदलती गयी जिससे साहित्य की दशा और दिशा पर गुणात्मक प्रभाव पड़ा। रचना–प्रक्रिया की निरंतर जटिल होती स्थितियों के बीच आलोचना प्रक्रिया में भी कठिनाई आयी जिसे आचार्य शुक्ल की इस भविष्यवाणी से समझा जा सकता है कि – "ज्यों–ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए–नए आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों–त्यों एक तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी कवि कर्म कठिन होता जाएगा।"[5] आलोचना में आयी जटिलता का कारण भी रचना कर्म के संदर्भ के निरंतर जटिल होते जाना है। अतः कहा जा सकता है कि रचना के समान "आलोचना भी व्यापक सांस्कृतिक सत्ता के संदर्भ में ही अर्थग्रहण करती है। सांस्कृतिक सत्ता के यथार्थ से टकराते हुए 'वैकल्पिक अवकाश' का अनुसंधान आलोचना का धर्म है। सांस्कृतिकक्षरण की प्रक्रिया में साहित्य अपने स्वभाव के कारण ही बड़ा सार्थक व दूरगामी हस्तक्षेप करता है। मनुष्य को संपन्नतर बनाना साहित्य का सामाजिक प्रकार्य भर नहीं, उसकी स्वायत्तता की भी आंतरिक प्रकृति है। आलोचना प्रदत्त पाठ की व्याख्या और संरचनात्मक विश्लेषण ही नहीं करती, उसके अंतर्निहित सांस्कृतिक अभिप्रायों का भी विवेचन करती है।"[6] यह आलोचना की जरूरत का मूल प्रश्न है और इसे वह युग संदर्भों में किसी न किसी रूप में पूरा करती है।

1.2 साहित्य और सामाजिक मूल्य

संस्कृति के अन्य पक्षों की तरह साहित्य और समाज के संदर्भ में भी मूल्यों का प्रश्न अक्सर उठाया जाता रहा है। मूल्यों का यह प्रश्न संस्कृति की गतिशील अवस्था

---

4 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ. 24

5 'चिंतामणि' भाग–एक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (सं.) रामकृपाल पाण्डेय, पृ. 84

6 'तीसरा रूख़', पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ. 3, 22

और साहित्य तथा समाज के आपसी संबंधों से जुड़ा है। साहित्यानुशीलन की परंपरा में समाज और साहित्य के बदलते रिश्तों के साथ मूल्यों का निर्धारण समय–सापेक्ष ठोस ऐतिहासिक अवस्थाओं के विभिन्न रूपों में हुआ। इस तरह स्पष्ट है कि मूल्यों का निर्माण और उसकी अवधारणा का विकास (चाहे वह सामाजिक हो अथवा साहित्यिक) मानव की उसी 'दूर्दम जिजीविषा' का परिणाम रहा है जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अशोक के फूल' निबंध में संस्कृति की निरंतरता तथा गतिशील अवस्था के रूप में चित्रित किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा से लेकर आधुनिक साहित्य–चिंतन की समूची राशि इस बात की गवाह है कि सभ्यता के विकास क्रम के साथ ज्ञान–विज्ञान और कलाओं के स्वरूप और स्तर में बुनियादी बदलाव आता है। बदलाव का यह रूप सामाजिक प्रक्रिया के आर्थिक, राजनैतिक और विचार धारात्मक व्यवहारों से प्रभावित होता है और किंही रूपों में प्रभावित भी करता है। द्वन्द्वात्मक विकास की इसी प्रक्रिया में साहित्यिक मूल्य भी बनते और बिगड़ते रहते हैं। रचना जिस तरह इस सांस्कृतिक गतिविधि का हिस्सा होती है, आलोचना के प्रतिमान भी 'इससे भिन्न किसी अन्य प्रक्रिया की उपज नहीं होते, उनका निर्माण भी सांस्कृतिक प्रवाह के इन्हीं अन्तर्विरोधों के साथ होता है। 'साहित्य और सामाजिक मूल्य' के प्रश्न पर विचार करते समय यह महत्वपूर्ण बात ध्यातव्य है कि साहित्य समाज का उत्पादन है लेकिन वह समाज की नकल भर नहीं है बल्कि रचनात्मक कृति है। साहित्य और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित होता है पर स्पष्ट और सीधा नहीं, साहित्य में सामाजिक प्रश्न कलात्मक रूप में बंधकर आते हैं अतः साहित्य को समझने के लिए समाज से उसके द्वन्द्वात्मक गहन आन्तरिक संबंध की समझ जरूरी है। साहित्य और समाज का संबंध जटिल होता है –

> *"समाज से साहित्य का संबंध कुछ–कुछ वही है, जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल, पात, पंखुड़ी, वर्ण, गंध आदि मिटट्ी के है कि उसमें मिटटी की सी सोंधी गंध आती है और रंग भी मटमैला होता है, धरती का रूप रंग फूल में नया वर्ण,*

गंध उत्पन्न करता है। इसी तरह साहित्य में भी समाज ज्यों का त्यों नहीं झलकता बल्कि रूपान्तरित रूप में अन्तर्निहित रहता है।[7]

धरती का महत्त्व रचनास्रोत के रूप में है, इस स्रोत से सौंदर्य की बहु विधि छवियों के निर्माण में रचनाकार का महत्व है और इससे कहीं आगे बढ़कर सौंदर्य की विविध मीमांसा का कार्य आलोचक करता है। आलोचक का कार्य सौंदर्य की प्रतीति में छुपे ऐसे मूल्यों की पहचान करना है जो साहित्य और समाज में मानवीयता की रक्षा करें और जिनसे सौंदर्य की प्रगतिशील कोटियों का निर्माण हो। साहित्य और समाज के मूल्यों के संदर्भ में आलोचना की जरूरत का प्रश्न भी छिपा है। समाज, साहित्य, लेखक तथा आलोचक के संबंध और दायित्व सांस्कृतिक विकास की ऐतिहासिक अवस्था के साथ निरंतर बदलते रहते हैं। हिन्दी आलोचना के स्वरूप निर्माण में 'मूल्यों' की बदलती अवधारणा के साथ इस तथ्य को जोड़कर ही साहित्य की विकास मान गति को समझा जा सकता है। साहित्य का अपना कलात्मक ढाँचा होता है जिसकी समाज से जुड़े रहने के बावजूद भी अपनी विशिष्टता होती है। हिन्दी आलोचना में किस प्रकार मूल्यों का बदलाव आया, सामाजिक दृष्टि का कितना समावेश साहित्य के विवेचन में हुआ? और उसकी परिधि की व्यापकता क्या रही? यही कुछ प्रश्न है जिनसे हिन्दी आलोचना के विकास का अध्ययन 'साहित्य और सामाजिक मूल्य' से जुड़ जाता है। आखिर साहित्य के सौंदर्यात्मक मूल्यों की तरह ही आलोचना के प्रतिमान भी तो सामाजिक–ऐतिहासिक स्थितियों की उपज होते हैं।

साहित्य और समाज के मूल्यों के आपसी संबंध को साहित्यानुशीलन की परंपरा में देखें तो इसकी दो दृष्टियाँ दिखलायी पड़ती हैं। प्रथम दृष्टि वह है जो 'कला को कला के लिए' मानती है और जिसकी जड़े संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में हैं। दूसरी वह है जो साहित्य को सामाजिक बदलाव का साधन मानती है, उसका स्रोत निर्गुण संतों की वाणियों में दिखायी पड़ता है। इसमें प्रथम जिसे हम संस्कृत काव्यशास्त्र की पंरपरा के रूप में जानते हैं वह अपने वाद–विवाद के लिए जानी जाती है, जिसमें 'काव्य की आत्मा' के निर्धारण का प्रश्न प्रमुख था, समाज और सामाजिक के साथ

---

7 'इतिहास और आलोचना', नामवर सिंह, पृ. 145–146

कला/काव्य के संबंधों पर विचार कम हुआ। हालाँकि इसके भी अपने सामाजिक–राजनैतिक कारण थे – समाज का सामंती ढाँचे में बँधा होना। दूसरी धारा जिसे निर्गुण संतों से जोड़ा गया है वह इसी सामंती संस्कृति के विरोध में उपजी जनसंस्कृति थी जिसने साहित्यिक मूल्यों को सामाजिक परिस्थितियों से जोड़कर साहित्य रचना की। यद्यपि यह साहित्य में समाजशास्त्रीय चिंतन नहीं था तथापि सामाजिक सत्यों के साथ साहित्यिक मूल्यों के एकत्व का प्रयास जरूर था। यह संस्कृत काव्यशास्त्र से भिन्न थी तथा उससे विशिष्ट और शक्ति संपन्न थी संस्कृत काव्यशास्त्र की 'वाद–विवाद' परंपरा में साहित्य और समाज की असम्बद्धता पर विचार करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि–

> *"भारत में साहित्यानुशीलन की परंपरा बहुत पुरानी है लेकिन साहित्य चिंतन की सामाजिक दृष्टि का विकास आधुनिक युग की देन है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा से चलकर आधुनिक साहित्य चिंतन की दुनिया में प्रवेश करने वाला कोई भी व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि दोनों में बहुत अंतर है। आधुनिक काल के साहित्य चिंतन की नवीनता समाज और साहित्य के अनेक प्रकार के संबंधों के बोध में दिखायी देती है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा अत्यंत समृद्ध है लेकिन उसमें समाज से साहित्य के अन्तर्संबंध की चिंता बहुत कम है।*[8]

मैनेजर पाण्डेय जहाँ से साहित्य में सामाजिक चिंतन का प्रारंभ मानते हैं, वह आधुनिक काल है। जिसे गद्य खड़ी बोली हिन्दी के विकास का काल भी माना जाता है यह काल राजनैतिक दृष्टि से कांग्रेस की स्थापना का समय है तो सामाजिक दृष्टि से नवीन समाज सुधार संस्थाओं के स्थापित होने का। साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चंद, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवि, लेखक और पत्रकार सर्जनशील थे। इस समय साहित्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा और उसी की अनुवर्ती रीतिकालीन काव्याँग निरुपण की परंपरा से नितान्त भिन्न नवीन दृष्टिकोण से रचा जा रहा था, जिसके मूल में रीतिकालीन परंपरा के अंतर्विरोध तथा भक्तिकालीन निर्गुण

---

8 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', मैनेजर पाण्डेय, पृ. 55

संतों की क्षीण परंपरा का योग तो था ही उस ऐतिहासिक परिस्थिति का भी योग था जो इस समय देश के सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक स्वरूप का निर्माण कर रही थी। यह नया युग था जिसमें पूर्ववर्ती युग से भिन्न सामाजिक 'मूल्यचिंता' थी, फलतः साहित्य के भी नवीन मूल्य विकसित हुए। इस नवीन मूल्य चिंता में सामाजिक पुनर्जागरण की भावना थी। पुनर्जागरण जिसने मध्यकालीन भारतीय जड़ता, रुढ़िवाद तथा परंपरा के मोह को गत्यात्मकता में बदला और तर्क तथा बुद्धि के आधार पर यथार्थ की नयी परिभाषा बनाई फलस्वरूप धर्म, दर्शन, साहित्य तथा राष्ट्र के प्रति नए दृष्टिकोण का निर्माण हुआ। इस नवीन बौद्धिक चेतना के निर्माण में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्णमिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी का योगदान रहा। इन संस्थाओं ने अध्यात्म को लोकसेवा से जोड़कर उसके लक्ष्य के रूप में मनुष्य को प्रस्तुत किया। भारतेन्दु युग के साहित्यिक मूल्यों के निर्माण में उस जटिल नाटकीय परिस्थिति का भी योग है जिसे राजनीति में कांग्रेस चला रही थी – वह थी राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति। भारतेन्दुयुगीन साहित्य पर इसकी पूरी छाप है। भारतेन्दु युग की इस नवीन साहित्यिक अभिरुचि और बदलते सामाजिक–साहित्यिक संबंधों को रेखांकित करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि–

> *"भारतेन्दु को नायिका भेद, नख–शिख वर्णन, अलंकार आदि कम आकृष्ट करते हैं, वे देश की दशा पर द्रवित होते हैं। इसलिए उनके साहित्य में नयी विषयवस्तु जुड़ गयी है। यह नयी विषय–वस्तु है – देश प्रेम। जो देश के यथार्थ–बोध पर आधारित है। इसमें भाषा, समाज–सुधार, पाखण्ड उद्‌घाटन बहुत कुछ है, लेकिन इसकी मुख्य विषयवस्तु आर्थिक है।"*[9]

भरतेन्दु का देश की दशा पर द्रवित होना और साहित्य में नयी विषयवस्तु देश प्रेम का जुड़ना उन्हें अपनी रीतिकालीन परंपरा से अलग तो करता है लेकिन यह अलगाव और मूल्यों की नवीन चिंता उन्हें कहीं भी भक्तिकालीन साहित्य की मूल्य चिंता और प्रयोजन की परंपरा में नहीं खड़ा करती है। यह सही है कि भारतेन्दु ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता तथा शक्ति की पहचान की फिर भी उनके समय में निर्मित

---

9 'हिन्दी साहित्य का इतिहास – सामान्य परिचय', विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 62

मूल्यों को जनवादी कहना अथवा भक्तिकालीन काव्य के सामाजिक मूल्यों से जोड़कर देखने की दृष्टि ऐतिहासिक नहीं होगी क्योंकि दोनों समय के सांस्कृतिक स्थितियों के अंतर्विरोध नितांत भिन्न ही नहीं परस्पर विरोधी भी हैं। पुनर्जागरण की जिस नयी चेतना ने भारतेन्दुयुगीन साहित्य को प्रभावित और विकसित किया उसी का विकास हम द्विवेदी युग में देख सकते हैं। समाज और साहित्य में जिस नवीन जागरण और सुधार की परंपरा की भारतेन्दु युग में शुरूआत हुई–मूल्यों की उसी चिंता से युक्त साहित्य की रचना द्विवेदी युग में हा रही थी, साहित्य में घोषित रूप से यह बात सामने आयी कि–

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"[10]

समाज के विकास में इतिहास की क्या भूमिका होती है या हो सकती है, इसे हम इस युग के साहित्य संसार से जान सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उपेक्षित पात्रों को साहित्य का नायक बनाकर समाज में उन्हें नया स्थान दिलाया गया। इस प्रकार साहित्य, इतिहास और आलोचना के मध्य समाज की विकासवादी दृष्टि ने द्विवेदी युग में भाषा संस्कार, नारी जागरण, समाज–सुधार तथा नवीन शिक्षा की वकालत की –महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि –

"कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना किनारे–किनारे केलि–कौतुहल बहुत हो चुका। न परकीयाओं प्रबंध पर प्रबंध लिखने की और न स्वीकायाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा प्रयन्त मनुष्य बिन्दु से लेकर समुद्र प्रयन्त जल; अनन्त आकाश ; अनन्त पृथ्वी; अनन्त पर्वत – सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है।".....[11]

'द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना के रूवरूप निर्माण में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनकी पत्रिका 'सरस्वती' की महत्वपूर्ण भूमिका है। 'सरस्वती' पत्रिका की समाजोन्मुखी प्रकृति को देखकर रामविलास शर्मा ने 'जातीय पत्रिका' कहा है। इस युग

---

10 'भारत–भारती', मैथलीशरण गुप्त, पृ. 181

11 'महावीर प्रसाद रचनावली' खण्ड–2, (सं.) भारत यायावर, पृ. 49

में साहित्य का लक्ष्य जनता में जागृत लाना सामाजिक सुधारों को बढ़ावा देना निर्धारित किया गया। साहित्य अब उपयोगिता के आधार पर मूल्यांकित होता है। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने साहित्य के कसौटियों के निर्धारण का कार्य किया। उन्होने काव्य की बोधगम्यता, समाजोन्मुकता एवं विषय की विविधता को अनिवार्य माना। और देशकाल के अनुसार कविता के विषय चयन पर बल दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हीराडोम की कविता 'सरस्वती' में छापकर ऐतिहासिक कार्य किया। जिससे हिन्दी साहित्य में दलित आत्माभिव्यक्ति की शुरुआत होती है। यह समाज तथा साहित्य के प्रति उनके नए मूल्यों की स्थापना तथा उपेक्षित वर्ग की मूल्य चिंता को महत्व प्रदान करने का कार्य था। उनके द्वारा किये गए इस प्रयास को परवर्ती हिन्दी आलोचना यदि आगे बढ़ाने में सफल हुई होती तो साहित्य के मूल्य सिर्फ कुलीन हिन्दू सवर्ण समाज के मूल्य तक ही नहीं सिमट जाते। लेकिन बाद की आलोचना ने हीराडोम की कविता छापने के लिए महावीरप्रसाद द्विवेदी को जनवादी दृष्टि से संपन्न सम्पादक बताया (जो कि सर्वथा सही है)। लेकिन हीराडोम की दलित चेतना के जिन मूल्यों की चिन्ता हिन्दी आलोचना में होनी चाहिए थी उसे भुला दिया गया।

मूल्यों के निर्माण में राजनैतिक स्थितियों की ऐतिहासिक भूमिका तथा साहित्य और समाज के संबंधों की गहरी आन्तरिक साम्यता हमें छायावादी साहित्य में मिलती है, जिसमें प्रेमचंद, जैनेन्द्र, जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसे कहानीकार और कवि थे तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसा आलोचक। राजनीति में यह गांधीवादी युग था, गांधी जी की आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की परिकल्पना इस युग के साहित्यिक मूल्यों पर स्पष्ट रूप से छायी हुई है। राष्ट्रप्रेम, नारी जागरण और समाजसुधार सभी मूल्य गांधी की इस कल्पना के साथ सामने आते हैं, प्रेमचंद और जैनेन्द्र का कथा साहित्य इसका जीता जागता उदाहरण तो है ही, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी का काव्य भी इसी चेतना से परिचालित और गतिशील है। छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझे बगैर उस पर दुरुहता और रहस्यमयता का आरोपण किया गया जो कि स्वतंत्रता संग्राम के समय चल रहे सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक, परिवर्तनों से पूर्णतः वाकिफ

है। यह 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'[12] नहीं 'राष्ट्रीय जागरण की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति'[13] का काव्य है। साहित्य के निर्माण में राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों का योगदान क्या होता है? इसे आचार्य शुक्ल की आलोचकीय टिप्पणी से समझा जा सकता है–

> *"प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है.... जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है।"*[14]

यह युग के साथ साहित्य और समाज की मूल्य चिंता में आने वाला बदलाव ही कहा जाएगा कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में जो साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब था वही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में मनुष्य की मुक्ति का साधन। सभ्यता के विकास के साथ जिस तरह सांस्कृतिक परिस्थितियों में बदलाव आता गया, राजनीति तथा अर्थतंत्र के लक्ष्य जिस तरह बदलते गए वैसे–वैसे साहित्य की मूल्य चिंता भी नया रूप धारण करती गयी। 1936 ई. में लखनऊ में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष के रूप में बोलते हुए प्रेमचंद द्वारा सुन्दरता की कसौटियों को बदलने की जो बात कही गयी उसके सूत्र गहरे रूप में उन अन्तर्विरोधों में हैं जिनके बीच साहित्य और समाज के संबंध ही नहीं बदल रहे थे, साहित्य की नवीन भूमिका भी तय हो रही थी। प्रेमचंद उस समय की राजनीतिक परिस्थिति में निर्मित समाज की 'सायकॉलॉजिकल सिच्युएशन'[15] को समझ रहे थे और इतिहास संपन्न आलोचकीय दृष्टि से साहित्य में नवीन मूल्यों की बात कर रहे थे, उन्होंने साहित्य को जीवन की आलोचना कहा और साहित्यकार का दायित्व निर्धारित करते हुए बताया कि–

> *"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है – उसका दर्जा इतना न गिराइए। वह देश भक्ति और*

---

12 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डॉ. नगेन्द्र, पृ. 245

13 'छायावाद', नामवर सिंह, पृ. 74

14 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. xvi

15 'समीक्षा की समस्याएँ', मुक्तिबोध, पृ. 33

राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।[16]

साहित्यकार को स्वभाव से ही प्रगतिशील बताकर प्रेमचंद न`'प्रगतिशील' नाम पर आपत्ति जतायी है। प्रेमचंद ने साहित्य के जिस स्वाभाविक रूप को प्रगतिशील बताया वह रसवादी तथा आनंदवादी मूल्यों की प्रणाली से भिन्न ही नहीं है। नितांत अलग भी है। प्रेमचंद समय के साथ समाज में आने वाले परिवर्तनों की आहट पहचान रहे थे और उसी अनुसार साहित्य में भी नवीन मूल्य प्रणाली का विकास कर रहे थे। बाद में जिसे हिन्दी की प्रगतिशील/मार्क्सवादी आलोचना के नाम से जाना गया उसके आधार सूत्र प्रेमचंद के इन विचारों में स्पष्ट हैं।

हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर जीवन तथा साहित्य के मूल्यों का परीक्षण करती है। इतिहास के विकासक्रम में मार्क्स के विचारों ने प्रगतिशीलता के संदर्भ में भौतिकवादी दृष्टिकोण से यथार्थपरक जीवन मूल्यों को सामने रखा और आनन्दवाद तथा आदर्शवाद के विरुद्ध वर्ग–संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिक पद्धति से साहित्य की नई व्याख्या दी। इनके आधार पर विकसित जीवन –दृष्टि हमें प्रगतिशील हिन्दी आलोचना में दिखायी पड़ती है। साहित्य में प्रगतिशील समीक्षा ने वैयक्तिक, आदर्शवादी और कलागत मूल्यों की जगह यथार्थपरकता और वास्तविकता की वकालत की। इस तरह अब मूल्यों के निर्धारण क्रम में समाज और साहित्य के जिस नए नजरिए का निर्माण हुआ उसमें वैज्ञानिक वस्तुपरक चिंतन का समावेश था। जिसे हम मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, और नामवर सिंह की समीक्षाओं में देख सकते हैं। जब साहित्य और समाज के इतिहास में विचारधारा और जीवन–दृष्टि को बाहर से ग्रहण किया जाता है तो उनके साथ एक कठिनाई उन्हें समसामयिक और विशिष्ट परिवेश के साथ जोड़ने की होती है अन्यथा उस विचारप्रणाली के अत्यधिक मोहवश जड़ता के उत्पन्न होने का खतरा बना रहता है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना भी इसका शिकार हुई। डॉ. शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह ने साहित्य में जिन साहित्यिक मूल्यों को आधार

---

16 'साहित्य का उद्देश्य', प्रेमचंद, पृ. 19

बनाया, उसमें भारतीय समाज की वर्णाश्रमवादी व्यवस्था की जटिलता को अनदेखा किया गया और समकालीन राजनैतिक मूल्यों से भी उनकी पृथकता बनी रही। इसका व्यावहारिक उदाहरण यह है कि सन् 1930 से 1935 के बीच के बीच राजनीति में अम्बेडकर और गाँधी के बीच जीवन मूल्यों को लेकर जो विवाद चला उससे हिन्दी आलोचना 'निरपेक्ष' बनी रही। राजनीति में शुरु दलित सौन्दर्यशास्त्र की माँग के मानक हिन्दी आलोचना के प्रतिमान नहीं बन सके और आलोचना के क्षेत्र में तमाम दावों एवं रणनीतियों की कलाबाजी के बावजूद कुलीनतावादी सवर्ण हिन्दू संस्कार काफी समय तक प्रभाव में बने रहे। समकालीन साहित्य के विवेचन में ही नहीं, परम्परा के मूल्यांकन में भी इसे स्पष्टतः देखा जा सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'परम्परा का मूल्यांकन' किया, यह एक तरह से साहित्य के साथ–साथ जीवन–मूल्यों की भी परम्परा है जिसमें तुलसीदास से लेकर निराला और भारतेन्दु से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचंद सभी को खड़ा कर दिया गया है। इस परंपरा में प्रतिगामी और प्रगतिगामी तत्वों का अलगाव का ध्यान नहीं किया गया जोकि मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना और मूल्यांकन प्रणाली की मूल शर्त है।

बहरहाल इस समय की आलोचना के समूचे साहित्यिक वाद–विवाद में 'प्रगतिशील' दृष्टि जो मूलतः ऐतिहासिक भौतिकवाद के दर्शन पर आधारित थी और भाववादी दृष्टि जो हेगेल की दृष्टि थी। साहित्य, समाज के मूल्यों तथा रचनाकार के दायित्व के निर्धारण में अपनी–अपनी दार्शनिक प्रणालियों के सहारे उठ खड़ी हुई। भाववादी दृष्टि चेतना को प्रमुख मानकर चलती थी और कला के नियमों पर अथवा कृति के विश्लेषण में समाज की घटनाओं को महत्त्व नहीं देती थी रचना को ही केन्द्र में रखकर उसके कलात्मक मूल्यों की परीक्षा करती थी, वहीं प्रगतिशील दृष्टि साहित्य को सामाजिक उत्पादन मानकर उसके सौंदर्यात्मक मूल्यों की सामाजिक सापेक्षता को रेखांकित करती है। एक जहाँ 'कला कीं स्वायत्ता' में यकीन करती है वहीं दूसरी धारा 'कला की सामाजिकता' में। कहना न होगा, नई कविता, प्रयोगवादी कविता तथा प्रगतिशील कविता के मूल्यों का अलगाव बहुत कुछ इन्हीं विभिन्न जीवन दृष्टियों के अलगाव का परिणाम है। साहित्य और समाज के संबंधों के निर्धारण में कला के तीन

क्षणों की बात करते हुए मुक्तिबोध कला की रचना–प्रक्रिया को सामाजिक विकास की प्रक्रिया से जोड़कर देखते हुए लिखते हैं –

> *"कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव को अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णवस्था तक की गतिमानता।"*[17]

इस समय के साहित्यिक मूल्य इन्हीं दृष्टियों की उपज हैं जिसे समझने के लिए, नये साहित्य की रचनाशीलता को समझने के लिए उनकी प्रेरक शक्तियों का ज्ञान जरूरी है। "विकास की डाइलेक्टिस को जो भी व्यक्ति (चाहे वह प्रोफेसर हो अथवा पाठक) अपने मन में नहीं रखेगा वह इस आधुनिक काव्य के प्रति दुरुहता का आरोप लगाएगा।"[18] तत्कालीन आलोचना का स्वरूप इस बात से निर्धारित हुआ है कि आलोचना में साहित्य और समाज के किन मूल्यों को महत्त्व दिया गया और उनके आपसी संबंधों के निर्धारण में कौन–सी दृष्टियाँ थीं।

1.3 हिन्दी आलोचना का स्वरूप

हिन्दी आलोचना के स्वरूप की पहचान का अर्थ हिन्दी आलोचना की परंपरा में निर्मित 'सांस्कृतिक दृष्टि' और 'विचारशीलता' के उस रूप को जानना है जो कि अपने समय की मूल्य चिंता के क्रम में साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण, विवेचन का मानक बनकर आयी है। 'भाषा–साहित्य–समाज' के बदलते रिश्तों के बीच आलोचना की विचारशीलता में कौन से प्रतिमान युग के मानक बनाए गए, यह हिन्दी आलोचना के स्वरूप की पहचान का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु होना चाहिए। क्योंकि आलोचना 'वाद–विवाद–संवाद' के रूप में अंततः 'वैचारिक संघर्ष' ही है जो सांस्कृतिक विकास

---

17 'एक साहित्यिक की डायरी', मुक्ति बोध, पृ. 20–21

18 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ. 50

की ऐतिहासिक अवस्था में सिर्फ दूसरों से नहीं स्वयं से भी हुआ करता है। रचना और आलोचना के संबंध निर्धारण में तथा युगीन रचनाशीलता को दिशा देने में क्या इस 'संघर्ष' की भी कोई भूमिका होती है या हो सकती है? कला और साहित्य के इतिहास में इसे अच्छी तरह देखा जा सकता है कि 'वैचारिक संघर्ष' (मूल्याँकन) की प्रक्रिया जब–जब कमजोर पड़ी है, तब–तब साहित्य और कलाओं का विकास बाधित हुआ है। 'वैचारिक संघर्ष' जीवन दृष्टियों का संघर्ष है जिससे संस्कृति के सभी अंग प्रभावित होते हैं। इसी को नामवर सिंह 'वाद–विवाद–संवाद' के रूप में देखते हैं–"चूँकि आलोचना विचारों का मैदान हैं, इसलिए वाद–विवाद से हम परहेज नहीं कर सकते। कहा भी गया है कि 'वादे–वादे जायते तत्वबोधः यानि वाद–विवाद से ही तत्व का जन्म होता है।"[19]

हिन्दी साहित्य की विकास परंपरा में 'वाद–विवाद' से उपजे 'तत्वबोध' के स्वरूप की पहचान ही हिन्दी आलोचना के स्वरूप की पहचान है।

आज जिसे हम 'हिन्दी आलोचना' कहते हैं उसके आरंभिक स्वरूप के दर्शन हमें भारतेन्दु युग में होते हैं। यद्यपि कि साहित्य और कला संबंधी वाद–विवाद संस्कृत काव्य शास्त्र से लेकर रीतिकालीन काव्याँग निरुपण की परंपरा में होते रहे तथापि साहित्य के सामाजिक संबंधों के साथ सौंदर्यबोधीय मूल्यों पर विचार कम ही हुआ। संस्कृत के आचार्य यदि 'ब्रह्मनंद सहोदर' को ही काव्य रस का प्रयोजन मानते रहे तो रीतिकालीन कवि/ आचार्य चमत्कार प्रियता और काव्य के रूप तत्व पर ही बल देकर काव्य और साहित्य की संकुचित परिधि में ही निमग्न रहे। साहित्य के गुण–दोष विवेचन की शैली हमें भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक और फिर हिन्दी में चिंतामणि और केशव के यहाँ दिखायी पड़ती है। भारतीय काव्यशास्त्र के विविध संप्रदाय इसी 'वाद–विवाद' की ही उपज थे और काव्यात्मा की खोज को लेकर ही समूचा काव्यशास्त्र विकसित हुआ। रीतिकाल में काव्य और साहित्य के जो लक्षण बने वह बहुत कुछ संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा से ग्रहण किया गया। सामंती और दरबारी

---

19 'आलोचना के सौ बरस', (सं.) अरविंद त्रिपाठी,, पृ. 32

संस्कृति से जीवन में आने वाली "एकरसता"[20] ने उनकी कविता (रीतिकालीन कविता) तथा साहित्य की कल्पना में "ठहराव"[21] ला दिया। इस ठहरी हुई परिस्थिति में जो कवि/आचार्य हुए उनकी सीमाएँ निर्धारित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि–

> *"इस एकीकरण का (आचार्यत्व और कवित्व) का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्याँगों का विस्तृत विवेचन तर्क द्वारा खण्डन–मण्डन, नये–नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ नहीं हुआ था। इसका कारण यह था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था, जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क–वितर्क नहीं हो सकता।"*[22]

काव्याँगों के 'विस्तृत विवेचन' और 'तर्क द्वारा खण्डन–मण्डन' की रीतिकालीन अविकसित प्रणाली का कारण मात्र गद्य का अभाव नहीं था – जैसा कि आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है– कारण दूसरे भी थे, जैसे– नवीन चिंतन का अभाव तथा सामंती संस्कृति की 'शाश्वत' और 'सार्वभौम' मूल्य की प्रणाली। भाषा का गद्य और पद्य होना विचार और विवेक की अभिव्यक्ति में बाधक नहीं होती है। इसे हम भक्तिकालीन साहित्य से जान सकते हैं, तर्क–वितर्क की पद्धति बहुत कुछ जीवन दृष्टि और ऐतिहासिक बोध की उपज होती है जिसका कि रीतिकालीन आचार्यों में अभाव था। भारतेन्दु काल में जीवन–दृष्टि के बदलने के साथ ही गद्य में विचारों का प्रस्फुटन तो हुआ ही, कविता में भी वैचारिकता का दबाव स्पष्ट रूप से है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य की ऐतहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करती हुई फ्रंचेस्का ओरसीनी ने लिखा कि –

> *"उन्नीसवीं सदी के पूवार्द्ध में यूरोपीय विचार तथा सार्वजनिक जीवन से प्ररित होकर कई शिक्षित हिन्दुस्तानियों ने कुछ उसी ढंग की भाषा, रहन–सहन और*

---

20 'हिन्दी साहित्य का इतिहास–सामान्य परिचय, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 39

21 वही

22 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 140

समाज की कल्पना करना शुरू किया था, जिसके माध्यम से वे अपने नए आदर्श–एकता, उन्नति, स्वर्णिम अतीत तथा उज्ज्वल भविष्य के आदर्श सबके सामने बयान करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते–आते और खासकर 1857 के बाद उत्तर भारत के शहर और कस्बों में जगह–जगह सभा–समितियाँ, पत्र–पत्रिकाएँ और स्कूल–कॉलेज स्थापित होने लगे।[23]

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने भारतेन्दुयुगीन समाज चिंता और साहित्य चिंता को पूर्ववर्ती रीतिकालीन सामंती मूल्यों से अलग किया। जीवन के मूल्य बदल जाने से साहित्य बदल गया। पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से खड़ी बोली गद्य का विकास हुआ साहित्य में 'एकरसता' और 'ठहराव' की जगह जीवंतता और गतिशीलता दिखायी पड़ती है। विषयों की विविधता के रूप में गद्य की शक्ति को पहचान कर आलोचकों ने इस युग के गद्य को 'हँसमुख गद्य' की संज्ञा दी। इतना सब हो जाने के बाद मूल्यांकन की कसौटी भी बदल गयी जो बुनियादी तौर जीवन दृष्टि के बदलाव से परिचालित थी। अतः कहा जा सकता है कि "हिन्दी साहित्य और आलोचना को राजदरवार की चकाचौंध से निकालकर 'जन समूह' के बीच खड़ा करने तथा उसकी सामाजिक जिम्मेदारी तय करने का काम भारतेन्दु युग' में होता है।"[24]

आलोचना के इस आरंभिक युग में आलोचना पद्धति का वैसा विकास नहीं हुआ जैसा कि हम द्विवेदी युग, छायावाद युग तथा परवर्ती आलोचना में देखते हैं फिर भी भारतेन्दु युग के साहित्यकारों की यह चेतना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आलोचना के माध्यम से समाज के प्रति एक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह किया जा सकता है। इस युग की पुस्तक समीक्षा में अथवा निबंधों में अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के सूत्र मौजूद हैं। सामाजिक यथार्थ की तीव्र अनुभूति का ही परिणाम रहा कि साहित्य में स्वाभाविकता की माँग की गयी। बालकृष्ण भट्ट इस युग के महत्त्वपूर्ण आलोचक माने जा सकते हैं। जिन्होंने साहित्य और समाज के गहन संबंधों की पड़ताल करते हुए 'साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास' कहा। 'जन

---

23 'हिन्दी पब्लिक स्फियर', हिन्दी की सार्वजनिक दुनिया, फ्रचेस्का ओरसीनी, पृ.15

24 'बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलचेना का आरंभ', अभिषेक रौशन, पृ. 26

समूह' के साथ विकसित साहित्य भाववादी और कलावादी सामंती मूल्यों से नितांत भिन्न ज्यादा सरस और प्रभावकारी था। बालकृष्ण भट्ट की इन सैद्धान्तिक मान्यताओं का व्यावहारिक रूप हम उनकी समीक्षित कृतियों में देख सके हैं जिसमें रचना की उत्कृष्टता और कमजोरी क्षेत्रों का सम्यक विवेचन मिलता है। लाला श्रीनिवासदास कृत ऐतिहासिक नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा 'सच्ची समालोचना' के नाम से करते हुए भट्ट जी ने साहित्य की स्वाभाविकता की खोज की है और नाटक के ऐतिहासिक कथानक के चयन तथा पूरी सफलता के साथ उसके निर्वाह न कर पाने पर आलोचना करते हुए लिखा कि–

> *"क्या केवल किसी पुरानी समझ के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया। क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह ऐतिहासिक हो जाएगा। यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तान–गो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा। किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी, उनके अतिरिक्त भाव किन पहलुओं पर छल्के हुए थे। अर्थात् उस समय मात्र के भाव (Spirit of Time) क्या थे? इस सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उसके दर्शाने का भी यत्न नाटकों के द्वार कीजिए –केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से ऐतिहासिक नाटकों के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते।"*[25]

यह साहित्य और आलोचना में इतिहास बोध की माँग थी जिसे बाल–कृष्ण भट्ट सरीखे आलोचक भारतेन्दु युग में कर रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने 'नाटक' नामक निबंध में नाटक की नवीन युग में प्रासांगिकता और प्रयोजन को समकालिक बताते हुए लिखते हैं–

"इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य होते थे। यथा (1) शृंगार, (2) हास्य (3) समाज संस्कार (4) कौतुक (5) देश वत्सलता।"[26]

---

25 उद्धृत, 'नवजागरण और हिन्दी आलोचना', रमेश कुमार, पृ. 50

26 'भारतेन्दु के श्रेष्ठ निबंध', संपादक, सत्यप्रकाश मिश्र, पृ. 34

'देश वत्सलता' और 'समाज संस्कार' की भावना भारतेन्दु के ही नहीं अन्य रचनाकारों की इस केन्द्रीय विधा का अंग थी जिसे भारतेन्दुयुगीन आलोचना ने 'नाटक' के रूप में पहचाना। भारतेन्दु का यह निबंध हिन्दी आलोचना का पहला सैद्धान्तिक लेख माना जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भारतेन्दुयुग के जिन दो समीक्षकों की चर्चा की है उनमें बालकृष्ण भट्ट के अलावा बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' है। शुक्ल जी के शब्द हैं कि – "आलोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने किया। समालोचना पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण–दोष के विस्तृत निरुपण की चाल उन्होंने चलाई।"[27]

ध्यातव्य है कि 'प्रेमघन' भारतेन्दु युग के महत्वपूर्ण समीक्षक थे। 'प्रेमघन' ने भी 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा की, और 1885 में 'आनंद कादम्बिनी' में ही बाबू गदाधर सिंह के द्वारा किए गए 'बंग विजेता' नामक बांग्ला उपन्यास के हिन्दी अनुवाद की आलोचना की।[28] इतना ही नहीं समालोचना के लिए आवश्यक बातों की चर्चा करते हुए प्रेमघन ने संपादकों के दायित्व का जो भान कराया वह उनकी भाषायी सांस्कृतिक जागरुकता और साहित्य–समाज के दायित्व बोध की संपन्नता को उजागर करता है– उन्होंने लिखा –

> *"न हमारी भाषा में विशेष समालोचना योग्य पुस्तकें ही आती हैं...और न नागरी के समाचारपत्र उनकी यथार्थ समालोचना ही करते हैं, वरंच वे केवल प्राप्ति स्वीकार ही मात्र करते व एकाध शब्द प्रशंसात्मक भी लिख देते हैं, चाहे वह योग्य हो अथवा न हो, परन्तु हमारी समझ में यह परिपाटी बहुत ही निकृष्ट है। यह क्योंकि 'सेत–सेत सब एक से–कनक, कपूर, कपास'? उनका मुख्य कर्तव्य यह है कि वे ठीक–ठीक और यथावत् गुण और दोष को तुल्य*

---

27 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 279–280

28 'हिन्दी आलोचना', विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 20

प्रकाशित करें, सत्कवि और सुयोग्य लेखकों के श्रम को सराहें, उनके यश फैलाएँ।[29]

भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना का यह महत्वपूर्ण पक्ष है कि उसमें रचनाकार–आलोचक ही ज्यादा है। 'केवल आलोचक' शब्द इस युग में किसी भी एक रचनाकार के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता तथापि 'रचना और आलोचना' के संबंध को समझने का प्रयत्न हमें पत्र–पत्रिकाओं में छपने वाले लेख और टिप्पणियों में दिखायी पड़ता है। जिससे तत्कालीन रचनाशीलता तो प्रभावित हुई ही साथ–ही परवर्ती रचना और आलोचना संसार भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। हिन्दी की यह आरंभिक आलोचना देश, समाज तथा साहित्य के हित के लिए लिखी जाने वाली पुस्तकों को जाँचने–परखने वाली संस्था के रूप में सामने आती है। यह आलोचना की ऐतिहासिक जरूरत थी। इसी ऐतिहासिक जरूरत को पूरा करने वाली आलोचना को 'सच्ची समालोचना' कहा गया। जिसका विकास 'द्विवेदी युग' में हुआ।

TH-19333

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' साहित्य और कला को अन्य विविध ज्ञानानुशासनों से जोड़ने के लिए जाना जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य का संस्कार किया और उसकी ऐतिहासिक महत्ता को स्पष्ट किया। साहित्य और काव्य को उपयोगिता की कसौटी पर परखा गया। 'भारत–भारती' की इन पंक्तियों को द्विवेदी युगीन आलोचना के मूल्य के रूप में माना जा सकता है जिसमें 'गुप्त जी ने कहा कि –

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"[30]

इस समय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना उल्लेखनीय है कि "ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है।" इसे भारतेन्दु युगीन आलोचना का अगला कदम माना जा सकता है। 'भाव' से 'ज्ञान' तक की यात्रा। भट्ट जी के लिए साहित्य में 'हृदय' प्रमुख था तो द्विवेदी जी के लिए 'ज्ञान' अर्थात् मस्तिष्क।

---

29 'नवजागरण और हिन्दी आलोचना', रमेश कुमार, पृ. 48
30 'भारत–भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 181

Jawaharlal Nehru University Library

कोई लेखक या प्रकाशक किसी पुस्तक को समालोचनार्थ क्यों भेजता है–

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस प्रश्न पर विचार करते हुए इसके तीन कारण देते हैं?

(1) या तो इसलिए कि पुस्तक के गुण–दोष उसे मालूम हो जाएँ। (जो लेखक के प्रतिकूल न हों)

(2) या इसलिए कि समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हो जाने से उसकी कुछ कॉपियाँ बिक जाएँ और इस तरह उसे कुछ टके वसूल हों।

(3) या इसलिए कि पुस्तक की प्रशंसा प्रकाशित होने से लेखक की यशो वृद्धि होगी।"[31]

इन तीनों कारणों से समालोचनार्थ भेजी जाने वाली पुस्तकों के प्रेषकों और इसी दृष्टि से कृपा करने वाले समालोचकों को आचार्य द्विवेदी सही नहीं मानते हैं। उनके अनुसार–

"इन तीनों में से किसी भी कारण से प्रेरित होकर जो लेखक या प्रकाशक समालोचना के लिए पुस्तक भेजता है वह न्याय और सदाचरण दोनों की दृष्टियों से समालोचना के कृपा–कटाक्ष की अभिलाषा रखता है, इस दशा में उसका गौरव समालोचक के गौरव की बराबरी कदापि नहीं कर सकता।"[32]

स्पष्ट है कि सच्चे समालोचक के द्वारा कृति के रहस्यों और कृति द्वारा दी जाने वाली शिक्षा को उद्घाटित करने को महत्वपूर्ण मानने वाले द्विवेदी जी की नजर में समालोचक और समालोचना का गौरव अत्यधिक महत्व और ऊँची चीज है। कवि और आलोचक की जिम्मेवारियों का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा– "कवि यह नहीं कहता कि यह काम करना अच्छा है और यह काम करना बुरा। वह इन बातों का चित्र दिखला कर उसके द्वारा समाज हितकर शिक्षा देता है। पति के अनुचित आचरण को देखकर भी आदर्श स्त्रियाँ उसकी प्रतिकूल नहीं करती। वे पति के सुख को अपना सुख समझती हैं, आन्तरिक वेदना सहने पर भी वे पति से कठोर और कोप–प्रदर्शक व्यवहार

---

31 'महावीर प्रसाद रचनावली, खण्ड 2, संपादक – भारत यायावर, पृ. 91

32 वही, पृ. 92

नहीं करती। इस लोकोपकारी शिक्षा को कवि महारानी धारिणी, औशिनरी और शंकुतला के चरित्र–संबंधी शब्द–चित्र दिखला कर देता है और ऐसी शिक्षा का असर अन्य रीति से दी गयी शिक्षा की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक होता है। इस तरह की शिक्षा में अपूर्व रसास्वादन के साथ–साथ चिर स्थायिनी शिक्षा भी प्राप्त होती है जो समालोचक ऐसे रहस्यों को उद्‌घाटित करके कवि के आतंरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है, वही सच्चा समालोचक है।"[33]

द्विवेदी युगीन आलोचना के स्वरूप को देखने से पता चलता है कि 'भारतेन्दु काल' में हिन्दी आलोचना' का जो ढाँचा तैयार हुआ वह इस युग में आकर स्पष्टतः दो भागों में बँट जाता है। "इनमें से एक धारा वह थी जिसका प्रतिनिधित्व द्विवेदी जी कर रहे थे और दूसरी धारा वह थी जिसके प्रतिनिधि 'मिश्रबंधु' शर्मा जी, और दीन जी जैसे आलोचक थे। द्विवेदी जी उदीयमान भारतीय मध्यवर्ग के आलोचक थे जो हिन्दी साहित्य को स्वाधीनता प्राप्ति और राष्ट्रीय निर्माण के एक साधन के रूप में देख रहे थे और उसी दृष्टि से आलोचना कर रहे थे।"[34] जबकि दूसरे पक्ष में शामिल 'मिश्र बंधुओं' (गणेश बिहारी, श्याम बिहारी और शुकदेव बिहारी) ने कविता को रस, छंद और अलंकार की दृष्टि से मूल्याँकित किया। 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रंथ की रचना इन्होंने की जो उनकी रीतिवादी मूल्यांकन पद्धति का उदाहरण है। तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारीलाल, भूषण और मतिराम (त्रिपाठी बंधु), केशवदास, कबीरदास, चन्द्रबरदायी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य का नवरत्न बताया गया है। कवियों की तुलना और उनके श्रेणी निर्धारण में प्रशंसा/निंदा का भाव ही अधिक है कवि की सामाजिक और मानसिक दशा का पता (जिसे बालकृष्ण भट्‌ट ने 'टाइम ऑफ स्प्रिंट' कहा) लगाने की जहमत नहीं उठायी गयी है। 'देव और तुलसी' की तुलना का एक उदाहरण दृष्टव्य हैं–

"इनको (देव को) किसी कवि से न्यून कहना इनके साथ अन्याय समझ पड़ता है, परन्तु इनको सर्वश्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास के

---

33 'साहित्य विचार', संपादक–भारत यायावर, पृ. 99, 100

34 'हिन्दी आलोचना का विकास', नंद किशोर नवल, पृ. 96

साथ भी अन्याय होगा। सिवा इन दोनों महात्माओं के और किसी भी तृतीय कवि की तुलना देव जी से कदापि नहीं की जा सकती – ये महात्मा भी उन गुणों को अपनी–अपनी कविता में सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितांत असमर्थ रहे... हम यही कह सकते हैं कि कुल मिलाकर ये दोनों देव जी से श्रेष्ठ नहीं है।[35]

मिश्रबंधुओं की यह विवेचन की भाववादी प्रणाली रीतिकालीन मूल्यों का आलोचना में प्रवेश था जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक ने खारिज किया है। आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में मिश्रबंधुओं को 'कवि वृत्तकार अधिक और आलोचक कम' माना है।

मिश्रबंधुओं ने जिस आलोचना में जिस रीतिवादी संस्कार का बीज बोया वह हमें इस युग के अन्य आलोचकों पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन, पद्मसिंह शर्मा आदि की 'तुलनात्मक समीक्षा' में दिखायी पड़ता है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही रेखांकित किया है कि – "मिश्रबंधुओं, लाला भगवानदीन और पं. पद्मसिंह शर्मा–इनमें विवाद चाहे जितना अधिक हुआ हो किन्तु ये तीनों रीतिकालीन संस्कारों से युक्त आलोचक हैं, इनकी श्रेणी एक ही है। ये नवीनता के समर्थक नहीं उसके विरोधी हैं, यह दूसरी बात है कि इन पर यंत्र–तंत्र आधुनिकता के छींटे पड़ गये हैं।"[36]

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और चौधरी 'प्रेमधन' ने जिस सैद्धांतिक और व्यावहारिक 'समालोचना का 'सूत्रपात' किया था उसका और भी निखरा और विकसित रूप परवर्ती काल में मिलना चाहिए था, लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की रीति विरोधी और समाज दृष्टि सम्पन्न आलोचना के बावजूद 'देव और बिहारी' में उलझ गयी। इससे जिस गम्भीर आलोचना दृष्टि के विकास की सम्भावना बनी थी वह पूरी न हो सकी। कहा जा सकता है कि द्विवेदी युग तक हिन्दी आलोचना की "यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्रायः रुढ़िगत (कन्वेशनल) ही रहा।"[37] क्योंकि

---

35 'हिन्दी नवरत्न', (पृ. 33), उद्धृत 'हिन्दी आलोचना', विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 234

36 'हिन्दी आलोचना', विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 24

37 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 315

'अन्तः प्रकृति की छानबीन'[38] और कवियों की विशेषताओं की जो सूक्ष्म विवेचना होनी चाहिए थी, वह द्विवेदी युग में नहीं मिलती।

'भारतेन्दु' और 'द्विवेदी युगीन' आलोचना के प्रतिमानों पर बात करते समय हमें तत्कालीन साहित्य और समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग की निर्णायक भूमिका का विस्मरण नहीं करना चाहिए। यह सही है कि इन दोनों युगों में साहित्य और समाज के संबंध गहरे हुए और आलोचना में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक जरूरतों के हित पूरक मानक बनाए गए। साहित्य के राष्ट्र समाज के प्रति कल्याणकारी होने की बात करना ठीक है पर उसके (साहित्य के) कल्याणकारी होने की सीमाएँ और संभावनाएँ तभी ज्यादा उभरेगीं जब यह देखा जाए कि कैसा साहित्य, कौन सा समाज, किसके राष्ट्र की हितपूर्ति के लिए सामाजिकता का आग्रह कर रहा था? तात्पर्य यह कि सामाजिक अन्तर्विरोधों की समझ के बगैर साहित्य की समझ बनाना ठीक वैसा ही कार्य है जैसे कि वगैर आधार के हवाई महल बनाना। इस तरह देखें तो भारतेन्दु युग में आर्य समाजी, हिन्दू पुनरुत्थान[39] की जो धारणाएँ साहित्य और समाज में बन रही थीं द्विवेदी युगीन आलोचना और साहित्य में वही मूल्यों के निर्धारण में आधारभूत भूमिका निभाते हैं। स्त्री स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक समाज की अवधारणाओं की भी अपनी सीमाएँ थी और उसका प्रभाव यह पड़ा कि समाज के साथ–साथ साहित्य में भी स्त्रियों और

---

38 वही, पृ. 332

39 आर्य समाज, ब्रह्म समाज जैसी संस्थाओं का योग भारतेन्दुयुगीन सामाजिक सुधार चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण माना जाता है, जो कि प्रकारान्तर से साहित्य में भी आ रही थी आर्य समाज की आधुनिकतावादी और पुनरुत्थानवादी प्रकृतियों और उनसे हिन्दी आंदोलन के लेखक–पत्रकारों के संबंध तथा प्रयोजन का उल्लेख करते हुए वीरभारत तलवार ने लिखा है –
"आर्यसमाज ने धर्म को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और धार्मिक व्यक्ति को अनुशासित, कर्मठ ओर उद्यमी बनाने का प्रयास किया लेकिन इन आधुनिक प्रवृत्तियों के साथ–साथ आर्य समाज में पुनरुत्थानवादी और शुद्धतावादी प्रवृत्तियाँ भी मौजूद थी। तर्कशीलता और बुद्धि विवेकशीलता के साथ–साथ इसमें वेदों को लेकर एक अतार्किक हठधर्मिता भी थी। अपनी श्रेष्ठता को लेकर दूसरे धर्मों के प्रति इसमें एक आक्रामक रवैया था। राष्ट्रवाद संबंधी अपनी संकीर्ण विचारधारा के कारण और ऊँची सरकारी नौकरियों से जुड़े अपने सदस्यों की वर्गीय स्थिति के कारण भी आर्य समाज राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से दूर रहा; हालाँकि वह इस दूरी को एक शैक्षणिक और धार्मिक संस्था होने के नाते उचित ठहराता था। पश्चिमोत्तर प्रांत के खास ऐतिहासिक संदर्भ में इन प्रवृत्तियों की परिणति मुस्लिम विरोधी हिन्दू राष्ट्रवाद की विचारधारा को मजबूत करने में हुई जिसे हिन्दी आंदोलन से जुड़े सनातनी संगठन और लेखक –पत्रकार पहले से हवा देते आ रहे थे।" (रस्साकशी,, वीरभारत तलवार, पृ. 346–347)

सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों की अनुपस्थिति लगातार बनी रही। भाषाई विवाद (हिन्दी–उर्दू) इसी पुनरुत्थानवादी मानसिकता तथा मध्यकालीन इतिहास की अंधकारपूर्ण मानने वाली दृष्टि का ही नतीजा रहा कि लिपि का अन्तर भाषा का अन्तर ही नहीं बना बल्कि हिन्दी को हिन्दुओं और उर्दू को मुसलमानों की संस्कृति से जोड़कर देखा जाने लगा। इन दोनों युगों की आलोचना को सही ढंग से समझने और उसकी प्रभाव विस्तार को जानने के लिए क्या इन प्रश्नों पर विचार का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता?

'द्विवेदी युग' के बाद 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिस काल को 'छायावाद' कहा जाता है। आलोचना के विकासक्रम में लगभग उसी को ही 'शुक्ल युग' की संज्ञा दी जाती है 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस युग के प्रमुख आलोचक है जिनका साहित्य विवेक निर्मित करने में परंपरा के अध्ययन का तो योग रहा ही तत्कालीन ऐतिहासिक स्थितियों की भी भूमिका कम नहीं रही। हैकेल के Riddle of the Universe के अनुवादक, डार्विन के विकासवाद और रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति के जानकार, आचार्य शुक्ल संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ तो थे ही हिन्दी नवजागरण की चेतना भी उनमें खूब फली–फूली है। जिसका उदाहरण यह है कि आचार्य शुक्ल में साहित्य को अमूर्त और अगोचर जगत से 'मूर्त और गोचर जगत' की यात्रा करायी। और 'लोक मंगल' की भाव भूमि पर साहित्य को पहली बार परखा। दूसरे शब्दों में पुनर्जागरण काल में 'जिस रचनात्मक ऊर्जा[40] का प्रस्फुटन हुआ था वह अब 'जागरण' और 'सुधार' से आगे बढ़कर शुक्ल जी का आलोचना में वह 'लोकमंगल' विधायिनी शक्ति बनकर आती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य को 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' मानते हैं, उनका आलोचना कर्म (सैद्धान्तिक और व्यावहारिक) इसी 'जनता' को ध्यान में रखकर विकसित हुआ है। जिसे आलोचना में वे अक्सर 'लोकमंगल' कहते हैं। 'रसमीमांसा' में उन्होंने रस की 'लोकवादी' व्याख्या की ओर कविता की साधना को

---

[40] 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 79

'भावयोग'[41] कहा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि में "सच्चा कवि वही है – जिसे लोक –हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम 'रसदशा' है।"[42]

शुक्ल जी ने 'गोस्वामी तुलसीदास (1933 ई.), जायसी ग्रंथावली (1925) और 'भ्रमरगीत' (1926) का संपादन लम्बी भूमिकाओं के साथ किया है जिसमें उनकी सूक्ष्म विवेचन क्षमता के दर्शन तो होते ही हैं, साथ में इतिहास और परंपरा से उनकी गहरी आत्मीयता का पता भी चलता है। 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में शुक्ल जी का समाज और 'लोकवादी' दृष्टि दिखती है। 'धर्म और आचरण' के विषय में उनकी टिप्पणी है कि – "परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परन्तु लोक व्यवहार और समाज की दृष्टि से नहीं।"[43] आलोचना में इतिहास दृष्टि का योग कितना महत्वपूर्ण होता है और साहित्य के विवेचन में उसकी क्या भूमिका होती है इसे आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहास में देखा जा सकता है। जिसमें उन्होंने साहित्य के इतिहास को सामाजिक गतिशीलता और सांस्कृतिक अवस्था के बदलते स्वरुप को साथ देखा है। साहित्य का इतिहास क्या है? उन्होंने लिखा–

> *"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता हैं जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है, अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ–साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष*

---

41 'चिंतामणि' भाग–एक, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सं. रामकृपाल पाण्डेय, पृ. 89

42 वही, पृ. 139

43 'विश्व प्रपंच', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 88

समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।[44]

यहाँ साहित्य को सीधे 'समाज का दर्पण न मानकर उसमें रचनाकार की भूमिका को स्वीकार किया गया है– "इस धारणा में समाज और साहित्य के बीच जनता की चित्तवृत्ति है। यह 'चित्तवृत्ति' साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है, सीधे समाज नहीं । प्रतिबिम्ब भी संचित है – छना हुआ, चुना हुआ और सोचा हुआ है।"[45]

आचार्य शुक्ल ने अपनी पूर्ववर्ती आलोचना की जिन कमियों की तरफ इशारा किया कि "वह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण–दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अन्तवृत्ति का सूक्ष्म व्यक्च्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखायी जाती हैं, बहुत कम दिखायी पड़ी।"[46] उसकी पूर्ति का प्रयास स्वयं कर रहे थे। हिन्दी आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक इतनी यात्रा कर चुकी थी कि वह न केवल रीतिवादी तत्वों से अपने को मुक्तकर सकी अपितु समाज से पूरी तरह से जुड़ भी गयी। पर क्या आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि समकालीन छायावादी काव्य/साहित्य की सही परख कर सकी?

'जनता' के नाम पर 'शिक्षित जनता' और 'लोकमंगल' के नाम पर मर्यादा और परंपरा[47] रक्षा का भाव 'तुलसीदास' और 'इतिहास' में कबीर के संबंध में उनके विचार और निष्कर्ष को प्रभावित करता है। कबीर की कविता में उन्हें न केवल 'हृदय पक्ष शून्य'[48] बल्कि उस कविता में 'लोकधर्म की अवहेलना'[49] 'रहस्यवाद' और 'लोक विरोधी स्वरूप'[50] भी मिला। इसी तरह 'छायावाद' के दो प्रमुख साहित्यकार –'प्रसाद' और 'प्रेमचंद्र' दोनों आचार्य प्रवर की समझ में न आ सके। प्रसाद में रहस्यवाद की

---

44 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. xvi
45 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', मैनेजर पाण्डेय, पृ. 59
46 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 292
47 वही, 82
48 वही, पृ. 81
49 वही
50 वही

'अभारतीयता'[51] की झलक दिखी तो प्रेमचन्द्र उन्हें साहित्य और राजनीति का घाल मेल करने वाले जान पड़े।[52] पंत की वे प्रशंसा करते हैं, उनके रहस्यवाद को स्वाभाविक रहस्यवाद मानकर 'प्रसाद' और 'महादेवी' के रहस्यवाद (जिसे वे साम्प्रदायिक मानते थे) से अलग किया है। पंत जी समाजवाद के प्रति भी रुचि रखते थे और 'गांधीवाद' के प्रति भी, शुक्ल जी इस वैविध्य से अवगत होते हुए भी यह विचार रखते हैं कि "हम तो यही चाहेंगे कि पंत जी आंदोलनों की लपेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृत स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोक मंगल की भावना का अवस्थान करें।"[53]

उपर्युक्त उद्धरण साहित्य और आलोचना के निर्धारण में 'विचारधारा' की भूमिका का उदाहरण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित रूप प्रदान किया और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में एक वैज्ञानिक इतिहास ग्रंथ लिखा लेकिन उनके इतिहास बोध में जहाँ 'हिन्दू–मुसलमान' की छाप विद्यमान है वहीं आलोचना में उन पर तुलसीदास की वर्णाश्रमवादी लोकधर्म का आग्रह है इसलिए जो तुलसीदास की इस विचारधारा (जो कि शुक्ल जी की भी है) में फिट नहीं बैठता वह लोकसंग्रही नहीं रह जाता। 'छायावादी रचनाशीलता' को परिभाषित करना इस समय की आलोचना का प्रमुख चुनौती थी जिसे आचार्य शुक्ल से कहीं ज्यादा अच्छे ढंग से रचनाकार स्वयं परिभाषित कर रहे थे, यह इस समय की आलोचना का दूसरा पक्ष है जिसमें कवि–आलोचकों (प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी) द्वारा लिखे गए साहित्यिक निबंध साहित्य और सामाजिक रिश्तों के बीच बन रहे नए मूल्यपरक संबंधों को व्याख्यायित करते हैं। आचार्च शुक्ल द्वारा छायावाद को 'बाहर का अन्धानुकरण' कहे जाने पर जयशंकर प्रसाद ने लिखा–

"विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते–करते 'छायावाद' रहस्यवाद आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो

---

51 वही, पृ. 420
52 वही, पृ. 318
53 वही,, पृ. 364

प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिन्दी कविता के अचेतन में, जड़ों में चेतनता का आरोप करना हिन्दी वालों ने अंग्रेजी से सीखा.... कहीं अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि 'गॉड इज लव' फिर क्या, कहीं भी हिन्दी ईश्वर के प्रेम रूप का वर्णन देखकर उन्हें अंग्रेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है।[54]

नंददुलारे बाजपेयी तथा डॉ. नगेन्द्र छायावाद के समर्थक आलोचक हैं बाजपेयी जी ने यद्यपि कि 'छायावाद' को तत्कालीन समाजिक दशा/परिस्थिति की उपज बताकर साहित्यिक आंदोलन के रूप में चिन्हित किया तथापि साहित्य की 'शुद्धता' और 'शाश्वत मूल्यों' की उनकी विचारधारा साहित्य को उपयोगिता के आधार पर नहीं 'सौंदर्य' और 'आनंदवादी' उनकी कसौटी साहित्य को लौकिकता से हटकर अलौकिक बनाने पर बल देती है – "लौकिक उपकार ही साहित्य की एक मात्र कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बनती है"[55] अपने इन्हीं मूल्यों के नाते वे 'सौष्ठववादी[56] आलोचक" भी कहे जाते हैं। सौंदर्य के इन उपासक आलोचक के लिए स्वाभाविक था कि वे परिवर्तनकामी शक्तियों का विरोध करते, प्रेमचंद जिस कटु सामाजिक यथार्थ को साहित्य में ला रहे थे और प्रसाद जिस यथार्थवाद को "लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात'[57] बता रहे थे, उस तरह के साहित्य को बाजपेयी जी ठीक नहीं मानते, इसकी मिशाल यह है पंत जी के प्रगतिवादी काव्य को तो उन्होंने नकारा ही, प्रेमचंद के साहित्य पर भी लिखा– "वे आधुनिक जीवन तक ही सीमित हैं और उनमें वर्गगत या जातिगत चित्रण की प्रधानता है, वैयक्तिक चित्रण की नहीं".... अन्यंत्र उन्होंने लिखा – " उनका सबसे बड़ा दोष–जो उनके साहित्य कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है – यही प्रोपैगेण्डा है।"[58]

---

54 काव्यकला और अन्य निबंध', – जयशंकर प्रसाद, पृ. 75
55 'हिदी साहित्य : बीसवी शताब्दी', नंद दुलारे बाजपेयी, पृ. 82
56 'हिदी आलोचना का विकास', नंद किशोर नवल, पृ. 127
57 'काव्यकला और अन्य निबंध', जयशंकर प्रसाद, पृ.57
58 'हिदी साहित्य : बीसवी शताब्दी' – नंद दुलारे बाजपेयी, पृ. 81

रसवादी आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने'रस सिद्धांत' ग्रंथ लिखा, रस को आनंद का पर्याय बताया[59] जो शुक्ल जी की 'लोक मंगल' की अवधारणा से नितांत भिन्न है। 'छायावाद' को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा–

"जब द्विवेदी युग में कविता उपयोगितावाद और भौतिकता की तुष्टि का एक मात्र माध्यम बनकर केवल सुधार–उपकरण ही रह गयी तो भावुकता ने पुनः एक नए रूप में विद्रोह खड़ा किया ..... सारांश यह है कि 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है।"[60]

साहित्य को सामाजिक मूल्यों की सापेक्षता में न देखने वाले डॉ. नगेन्द्र ने यदि विकास की ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मकता और द्विवेदीयुगीन साहित्यिक अंतर्विरोधों के बीच 'छायावाद' को उसकी प्रवृत्तियों के विकास में नहीं देखा तो आश्चर्य ही क्या? क्योंकि डॉ. नगेन्द्र की आलोचकीय दृष्टि इतिहास की चक्रीय अवधारणा में ज्यादा, प्रगतिशील विकास की धारणा में कम यकीन रखती है। 'प्रगतिवाद' पर उन्होंने लिखा– "जीवन का विकास वर्गबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वर्गों में बाँटकर जीवन को देखना तो स्वयं ही रुग्ण दृष्टि का परिचायक है इसीलिए व्यापक जीवन दर्शन त्यागकर अपनी रुढ़ता में प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक जब प्रगतिवादी बनने का आग्रह करने लगा, तो न उसने कला और साहित्य का ही हित किया और न वह स्वस्थ प्रगति चेतना का ही विकास कर सका।"[61]

छायावादी आलोचना की विशेषताओं और सीमाओं की विस्तार से चर्चा इसलिए करना जरूरी हो गया है कि परवर्ती आलोचना के विवादों में एक विवाद छायावादी काव्य के 'आदर्श' और गद्य के 'यथार्थ' तथा आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि का रहा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना का अगला चरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना में दिखता है। साहित्य को व्यापक संस्कृति के साथ

---

59 'हिदी आलोचना का विकास', नंद किशोर नवल, पृ. 182

60 'हिन्दी आलोचना', विश्वनाथ त्रिपाठी में उदृधृत डॉ. नगेन्द्र का वाक्य, पृ. 158

61 'वही, पृ. 136

जोड़कर द्विवेदी जी ने प्रस्तावित किया कि – "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गीतहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके... जो उसके हृदय को पर दुख–कातर न बना सके उसे साहित्य मानने में मुझे संकोच होता है।"[62] हिन्दी आलोचना अब उस अवस्था में पहुँच चुकी थी, जहाँ 'शिक्षित जनता' और 'शास्त्र की मर्यादा से पृथक 'लोकचिंता' प्रमुख हो जाती है। हिन्दी आलोचना में विकसित हो रहे इन मूल्यों के पीछे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की भी प्रेरणा दिखायी देती है – 1940 ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आचार्य द्विवेदी ने लिखा कि – "मतो, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्ड से लोकचिंता को नहीं मापना चाहता बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।"[63]

'लोकचिंता' और विकास की गतिशील अवस्था की ऐतिहासिक दृष्टि के चलते ही आचार्य द्विवेदी की आलोचना में हमें 'जड़ीभूतसौन्दर्य के संस्कारों से मुक्ति का प्रयास दिखता है। वे जीवन में संघर्ष को महत्त्व देते थे, मनुष्य की जिजीविषा, इसी संघर्ष के आधार पर संस्कृति के विकास में अपना योग देती है– "संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है।"[64]

समाज के बारे में यह दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती आलोचकों से भिन्न ही नहीं विशिष्ट भी है जिसने साहित्य में चली आ रही 'आनंदवादी' सार्वभौम मूल्यों की संस्कृति वाली परंपरा से अलग लोक की संघर्षशील, शक्ति सम्पन्न परंपरा के साथ अपनी सहमति जतायी। इस बदले हुए नवीन दृष्टिकोण का ही परिणाम रहा कि साहित्य में अब तक उपेक्षित 'कबीर' आलोचना के केन्द्र में आते हैं। क्या यह आचार्य शुक्ल की परंपरा से भिन्न परंपरा नहीं थी, जो आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की आलोचना

---

62 'अशोक के फूल', हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 148

63 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.48

64 'अशोक के फूल', हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 14

पद्धति और इतिहास दृष्टि के फर्क को उजागर करती हो। निश्चित रूप से 'साहित्य में यह 'दूसरी परंपरा'[65] थी, जिसकी पहचान नामवरसिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में की है जिसमें इतिहास को प्रतिक्रिया के रूप में न देखकर स्वाभविक विकास के रूप में देखा गया है। यद्यपि की इस 'दूसरी परंपरा' की मूल्य दृष्टि के भी अन्तर्विरोध हैं पर इसका महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना जिन लोकवादी मूल्यों के आधार पर अपने मानदण्ड के विकास का प्रयास करती है, उनके लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि पृष्ठभूमि तैयार करती है।

प्रगतिशील दृष्टि किसी कालखण्ड विशेष की नहीं होती वह प्रत्येक समय साहित्य और समाज में क्षीण अथवा प्रमुख दृष्टि के रूप में विद्यमान रही है लेकिन एक संगठित रूप में साहित्य और आलोचना में प्रगतिशील विचारों का जो आन्दोलन चला उसका प्रस्थान बिंदु 1936 ई. में लखनऊ में हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम सम्मेलन को माना जा सकता है। प्रेमचंद ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की और अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्यकार को स्वभावतः प्रगतिशील कहा। प्रगतिशीलता का लक्षण बताते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि वह "अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहता है।"[66] साहित्य और समाज को देखने की यह ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि थी, जिसे राजनीति की मार्क्सवादी विचारधारा के रूप में जाना जाता है। "मार्क्सवादी दृष्टि मूलतः सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि है वह किसी वस्तु का अध्ययन देशकाल के परिप्रेक्ष्य में करती है, विवेच्य में अन्तर्विरोधों का विश्लेषण करके वैज्ञानिक ढंग से प्रतिक्रिया और प्रगति के तत्वों को अलग करती है।"[67] हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना जिसे मार्क्सवादी आलोचना भी कहा जाता है इसी दृष्टि से साहित्य का विवेचन–विश्लेषण करती है।

मार्च 1937 में शिवदान सिंह चौहान का लेख 'विशाल भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नाम से प्रकाशित हुआ, चौहान हिन्दी की

---

65 दूसरी पंरपरा की खोज', नामवर सिंह, पृ. 145

66 'साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचंद, पृ. 23

67 हिन्दी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 182

प्रगतिशील आलोचना के आरंभिक आलोचकों में थे। लेकिन हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की विधिवत् शुरूआत डॉ. रामविलास शर्मा से होती है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को आधार बनाकर उन्होंने कृतियों तथा कृतिकारों का विवेचन किया। प्रेमचन्द उनके प्रिय कथाकार हैं तो निराला प्रिय कवि। इन दोनों रचनाकारों पर लिखी गयी उनकी आलोचना पुस्तकें सर्जनात्मक प्रगतिशील समीक्षा की श्रेष्ठ उदाहरण हैं। हिन्दी भाषा तथा हिन्दी नवजागरण उनके प्रिय विषय रहे हैं जिन पर उन्होंने स्वतंत्र पुस्तकें लिखी। 'परंपरा का मूल्याँकन' करते हुए उन्होंने प्रगतिशील साहित्य की पहचान करते हुए जिस परंपरा का निर्माण किया, वह बहुत कुछ असंतुलित और एक ही खाँचे में फिट कर देने जैसा है जिसमें कबीर, से लेकर भरतेन्दु, तुलसी से लेकर निराला और प्रेमचंद सभी की एक ही परंपरा तय कर दी जाती है।"[68] जैसा कि उन्होंने तुलसीदास के मूल्यांकन में किया है। मार्क्सवाद की जड़ प्रवृत्ति और प्रगतिशील परंपरा के अति आग्रह के चलते रेणु की आंचलिकता यदि उन्हें प्रकृतवाद[69] जान पड़ती है तो मुक्ति बोध जैसे कवि रहस्यवादी और भाववादी हो जाते हैं।[70] यद्यपि उन्होंने केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन तथा त्रिलोचन पर जो समीक्षाएँ लिखी हैं वह उनकी प्रतिबद्धता और पक्षधरता को स्पष्ट करने वाली है।

मार्क्सवादी, प्रगतिशील आलोचना अपने आरंभिक समय में कई अन्तर्विरोधों से ग्रसित थी, फिर भी नामवर सिंह और मुक्तिबोध की आलोचना में इसका व्यवस्थित रूप देखा जा सकता है। आलोचना को 'वैचारिक संघर्ष' का दर्जा देकर नामवर सिंह ने इसे

---

68 "कुछ गुणों /मूल्यों /प्रवृत्तियों से समानता के आधार पर व्यक्तियों को शृंखलाबद्ध कर देने जैसा ही एक अन्य प्रयास आलोचना में अक्सर दिखाई देता है। यह है कुछ गुणों/मूल्यों/प्रवृत्तियों आदि का स्रोत किसी एक व्यक्ति को बताकर कुछ अन्य को उस व्यक्ति की 'परंपरा' में देखने का आग्रह। हिन्दी आलोचना में इसका एक नमूना 'प्रेमचंद की परंपरा' पर होने वाली बहस है। 'प्रेमचंद की परंपरा और आंचलिकता' शीर्षक एक लेख में डॉ रामविलास शर्मा ने पहली बार प्रेमचंद की परंपरा का जिक्र किया है और उन्हें प्रतिमान बनाकर रेणु के लेखन की कुछ विशेषताओं की निंदा की और इस परंपरा से बाहर ढकेल दिया। डॉ. रामविलास शर्मा ने यह स्पष्ट नहीं किया कि प्रेमचंद परंपरा में होने के लिए क्या अनिवार्य है तथा इस परंपरा में और कौन–कौन शामिल है।" 'आकार', अंक 25 (रजत जयंती अंक) में प्रकाशित कवितेन्द्र इन्दु का लेख – 'परंपरा : इतिहास का राजनीतिक पाठ', पृ.113

69 'आस्था और सौंदर्य', रामविकास शर्मा, पृ. 96, 97

70 'नयी कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा, पृ.142

वाद–विवाद–संवाद की परंपरा के रूप में देखा– 'कविता के नए प्रतिमान' में उन्होंने अनुभूतिवाद के 'कामनसेंस' को तोड़ा और मुक्तिबोध को केन्द्र में ले आए। 'कहानी नयी कहानी' में उनका उद्देश्य नए साहित्य को, नवीन कला के रूपों को स्वीकारने के आग्रह के साथ आगे बढ़ा है जो कथा साहित्य में प्रेमचंद की यथार्थवादी रचनाओं से भिन्न रूप में आ रही थी। मुक्तिबोध ने आलोचना को साहित्य के सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया से जोड़कर देखा, उनका इतिहासबोध और आलोचनात्मक विवेक भौतिकवाद की जिस ऐतिहासिकता के साथ निर्मित हुआ है वह 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' के द्वन्द्व की उपज है। वे मानते हैं कि –

> *"आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुतः कलाकार या लेखक से अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है।"..... साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होने वाले ज्ञान–संवेदन तथा संवेदन ज्ञान में ही है। इस ज्ञान संवेदना और संवेदन ज्ञान से परे जाने वाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यकता।*[71]

हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना के जो अन्तर्विरोध रहे हैं, उनका मूल कारण यह रहा कि प्रगतिशील आन्दोलन के कुछ विषयों पर या तो स्पष्ट धारणा नहीं थी, या फिर दुराग्रह वश, विवेकपूर्ण ढंग से सत्य को पहचाना नहीं जा रहा था, साहित्य और राजनीति का आपसी रिश्ता, साहित्य और जनता के बीच संबंध तथा लेखक और पार्टी का परस्पर संबंध कैसा हो, कितना हो और कहाँ तक हो इसका कोई विवेकपूर्ण निर्धारण नहीं दिखायी देता फलतः साहित्य के विवेचन में ऐतिहासिक विकासवादी दृष्टि के बावजूद अति उत्साह, भ्रांति, और भोलापन देखने को मिलता है। अति उत्साह में यदि प्रक्रियावादी को प्रगतिशील घोषित कर दिया गया तो 'नागार्जुन' जैसे प्रगतिशील कवि लम्बे समय तक नहीं पहचाने गए। इन्हीं अन्तर्विरोधों के बीच 'कला की स्वायत्तता' और 'साहित्य की रक्ष' के नाम पर यदि कलावादी एक जुट हो तो कोई आश्चर्य नहीं, पचास के दशक में 'नई कविता' और 'प्रयोगवाद' जैसे साहित्यिक आन्दोलनों का स्वरूप ऐसा ही था। जिसमें 'नई' और 'प्रयोग' जैसे विश्लेषण निरन्तर

---

71 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष', मुक्तिबोध, पृ.15

परिवर्तन का भ्रम पैदा करते रहे जबकि "ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तरछायावाद की समाजविरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढ़ाव है।"[72] जो साहित्य और आलोचना में प्रगतिशील दृष्टि से सर्वथा पृथक है।

कलावादी दृष्टि और साहित्य की सामाजिक मूल्य की दृष्टियों के बीच वाद–विवाद पचास की दशक की आलोचना की प्रमुख प्रवृत्ति है। जिसे साहित्य के इतिहास में प्रगतिशील, परिमल गुट के विवाद के रूप में जाना जाता है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त आदि साहित्य को राजनीति से अलग रखकर देखते हैं वहीं मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, रांगेय राघव जैसे आलोचक साहित्य को सामाजिक उत्पादन मानकर मार्क्सवादी सौंदर्य दृष्टि से उसका विश्लेषण करते हैं।

साहित्य और विचारधारा में मूल्यों के प्रश्न को लेकर जब दो अतिवादी खेमे हों तो अक्सर कविता और कला के संतुलित मूल्यांकन की समस्या खड़ी हो जाती है। हिन्दी आलोचना के छठवें दशक में कुछ ऐसी ही स्थितियाँ दिखायी देती हैं जब नई कहानी और नई कविता के प्रति या तो निंदा का भाव अपनाया गया अथवा कोरी भावुक प्रशंसा का। आलोचना में इस कोरी भावुकता को बढ़ावा देने का कार्य अध्यापकीय आलोचकों का रहा जो उस समय के 'हिन्दी विभागों' में थे। ऐसे समय में कुछ आलोचकों ने संतुलित दृष्टि अपनायी और साहित्य को सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मकता में देखकर नए साहित्य की सौंदर्यपरक मूल्यों की महत्ता को स्पष्ट किया ऐसे आलोचकों में देवीशंकर अवस्थी, मलयज, नामवर सिंह आदि का नाम लिया जा सकता है। इन आलोचकों का आलोचना कर्म नए साहित्य के स्वीकार के साथ आगे बढ़ा है।

---

72 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. नामवर सिंह, पृ. 63

द्वितीय अध्याय

'देवीशंकर अवस्थी और तत्कालीन हिन्दी आलोचना'

'देवीशंकर अवस्थी और तत्कालीन हिन्दी आलोचना'

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में जो राजनीतिक–आर्थिक परिवर्तन घटित हुए, इस समय की सांस्कृतिक गतिविधि के निर्धारण में उनका महत्वपूर्ण योग है। संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में साहित्य भी इन परिवर्तनों से अछूता नहीं रहा। 'नई कविता', 'नई कहानी' और 'नवलेखन' के रूप में हिन्दी आलोचना भी नया अर्थ ग्रहण करती है। आलोचना अब निर्णय, गुण–दोष विवेचन से आगे बढ़कर रचना–प्रक्रिया के परीक्षण का दायित्व संभालती है। देवीशंकर अवस्थी इसी दौर के आलोचक हैं। आलोचना में बौद्धिकता के सहारे वे साहित्य के मूल्यांकन में प्रवृत्त होते हैं।

'बौद्धिकता' जो इस युग की चारित्रिक विशेषता बन गयी थी वह हमें रचनाकारों में भी दिखायी पड़ती है। अवस्थी जी ने युग की बदलती आवश्यकता को ध्यान में रखकर इस बात का जिक्र किया है कि रचनाकार और आलोचक को इस नवीन युग में बौद्धिक तैयारी के साथ साहित्य–कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। छठवें दशक की परिस्थिति में देखें तो पता चलता है कि "आलोचना मुख्यतः बौद्धिक व्यवसाय है जहाँ इस बौद्धिक तैयारी की कमी है उसका प्रभाव आलोचना पर भी पड़ता है और रचना पर भी। पर आलोचना में वह बहुत प्रत्यक्ष होता है और रचना में तनिक भीतरी –जिसका कि उद्‌घाटन करना पड़ता है।"[1]

बौद्धिकता के इस माहौल में देवीशंकर अवस्थी के आलोचनात्मक विवेक का संघर्ष जैसा कि अरविन्द त्रिपाठी ने रेखांकित किया है– "जड़ मार्क्सवादियों, गूढ़ कलावादियों, रसवादियों और भूमिम्गतं काव्यशास्त्रियों से होता है। मार्क्सवादी विचारकों के नाम पर तब प्रगतिवादियों में शिवदानसिंह चौहान रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि का वर्चस्व था। रसवादियों, काव्यशास्त्रियों की एक अत्यन्त संगठित जमात पूरे देश के विश्वविद्यालयी हिन्दी विभागों में जमा थी चौतरफ़ा। नन्ददुलारे बाजपेयी, भगीरथ मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, गणपतिचन्द्र गुप्त से लेकर देवीशंकर अवस्थी के निकटस्थ डॉ. नगेन्द्र, आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ. रमाशंकर

---

1 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.24

शुक्ल 'रसाल' इत्यादि थे। यह वह वर्ग था जो छायावाद को स्वीकार करने में द्रविण प्राणायाम करता था तो भला 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद', 'नई कविता', 'नई कहानी' को कैसे गले उतारता। तीसरी ओर अज्ञेय और परिमल मंडली का प्रभामडल था जो नए साहित्य में प्रयोगवाद से लेकर नई कविता, नई कहानी तक व्यक्तिवाद, कलावाद, रूपवाद का मायाजाल फैला रहा था। जो साहित्य के सामाजिक सरोकारों के प्रति उदासीन था।"[2] छठवें दशक के इस समूचे साहित्यिक परिदृश्य में रचना और आलोचना को लेकर जो स्थितियाँ बन रही थीं उसमें मलयज, विजयदेव नारायण साही, देवीशंकर अवस्थी तथा नामवर सिंह का आलोचना कर्म नए साहित्य के स्वीकार के साथ आगे बढ़ा है। इन आलोचकों की राय परम्परा, साहित्य रचना–प्रक्रिया तथा ऐतिहासिक समझ पर परस्पर भिन्न थी, तथापि ये आलोचक साहित्य में घटित हो रहे नयेपन को युगीन अन्तर्विरोधों के साथ देखते हैं और उसे महत्व प्रदान करते हैं।

देवीशंकर अवस्थी पेशे से अध्यापक थे और नयी चीज़ों की स्वीकृति विश्वविद्यालयों में एक अरसे के बाद मिलती है। विश्वविद्यालयों का अध्ययन–अध्यापन एक बंधी प्रणाली पर होता है जिसे पाठ्यक्रम कहते हैं। इस पाठ्यक्रम को आधार बनाकर जो छात्रोपयोगी समीक्षाएँ लिखी जाती हैं उन्हें आलोचना की भाषा में 'प्राध्यापकीय आलोचना' कहा जाता है। जिन रसवादी और जड़ मार्क्सवादी आलोचकों की चर्चा अरविन्द त्रिपाठी देवीशंकर के समकालीनों में करते हैं उनमें से ज्यादातर विश्वविद्यालयों से जुड़े हुए अध्यापक थे। अवस्थी जी इस विश्वविद्यालयी प्राध्यापकीय आलोचना से दूर रहे। हालाँकि वे मानते थे कि यह आलोचना की प्रवृत्ति है जो विश्वविद्यालय के बाहर रहकर भी लिखी जा सकती है। विश्वविद्यालय की सीमा में रहकर जिन लोगों ने नवीन चीज़ों के प्रति रूचि दिखायी वे हिन्दी की इस जकड़बंद मानसिकता के शिकार हुए। हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह का अध्यापकीय जीवन इसका उदाहरण है।

देवीशंकर अवस्थी ने अध्यापकीय पेशे से जुड़े रहकर इस जकड़ी मानसिकता की निंदा की और नये साहित्य तथा नवीन परिस्थतियों के प्रति हिन्दी विभागों की

---

2 देवीशंकर अवस्थी, अरविन्द त्रिपाठी, पृ.24

उदासीनता पर चिंता प्रकट की। उन्होंने विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि – "अपवादों की बात यहाँ पर मैं और अधिक नहीं करता पर सामान्य तौर पर हिन्दी का अध्यापक नई प्रतिभाओं, नए साहित्य एवं नवीन परिस्थितियों के प्रति नितान्त अप्रबुद्ध है। यदि विश्वविद्यालयों की ओर आइए तो स्थिति और भी भयंकर मिलेगी पुराना सिरका बनाकर साहित्य को स्वीकार किया जाता है।"[3]

देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का केन्द्र सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग बने क्योंकि वे साहित्य को समस्त गतिविधियों की नवीनता के साथ जोड़कर देखने के हिमायती थे। इसका दूसरा भी पक्ष है कि साहित्य में उठने वाली नवीन प्रवृत्तियों (जिनका अवस्थी जी समर्थन करते हैं) का विरोध भी इसी विश्वविद्यालयी लाबी ने किया था। 'प्राध्यापकीय आलोचना' जिसे अवस्थी जी एक प्रवृत्ति मानते हैं उसकी एक पंरपरा है जो हमेशा नवीनता से मुँह छुपाती और अतीत के गीत गाती रही है। नव भावबोध उसे देर से समझ में आता है। 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नई कविता', 'नई कहानी' आदि साहित्यक प्रवृत्तियों को समझने में इस दृष्टि ने ऐतिहासिक भूलें की हैं। इस जड़ता से जूझने की परंपरा भी हिन्दी आलोचना में मौजूद है। जो बालकृष्ण भटट हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी और देवीशंकर अवस्थी के आलोचना–कर्म के साथ आगे बढ़ती है। इन आलोचकों ने गतिशील सामाजिक वातावरण में रुढ़ मान्यताओं को चुनौती देती हुई रचनाओं के मूल्यांकन में सकारात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साहित्य में यथार्थ और स्वप्न के अन्तर्विरोध का एक नया संदर्भ और नया आयाम दिखायी पड़ता है जो अगस्त 1947 के पहले के साहित्य में अनुपस्थित था। विजयदेव नारायण साही के शब्दों में यह 'संक्रांति'[4] का

---

3 'आलोचना का द्वन्द्व', देवीशंकर अवस्थी, पृ. 82

4 "इस दशक की ख़ासियत यह थी कि इसके लेखक ओर–शोर से अपने युग को 'संक्रांति' का युग घोशित करते फिरते थे। इस जमाने के किसी भी वैचारिक लेख को उठाइए। अगर पहला ही वाक्य न हुआ तो बीच में कहीं न कहीं जरूर मिल जायेगा 'हम संक्रांति के दौर से गुजर रहे हैं... ।' पुरानी आदत से मजबूर 1966 में भी इक्के–दुक्के इस तरह की घोषणा मिल जायेगी। मगर अब यह वाक्य हर लेखक की टेक नहीं रह गया है। यह ख़ास किस्म का आत्मज्ञान और आत्म विज्ञापन 'छठवें दशक' की विशेषता है। यह 'संक्राति' प्रगतिवादियों की क्रांति से भिन्न है।

काल था तो नामवर सिंह ने इसे साहित्य में 'नव–रोमांटिक उत्थान' के रूप में चिन्हित किया। जिसका आधार सांस्कृतिक–पुनर्जागरण की भावना थी। और यह कविता में यदि रागात्मक और गीतात्मक रूप में प्रकट हुआ तो उपन्यास और कहानी में आंचलिकता के रूप में। 'संक्रांति' के इस काल में उपजी काव्य–प्रवृत्तियों की रूमानियत छायावाद से कैसे भिन्न है। नामवर सिंह के शब्दों में – "यह नव–रोमांटिक काव्य –प्रवृत्ति छायावादी रूमानियत से इस बात में भिन्न है कि इसका प्रकृत्ति–सौंदर्य वायवी और सामान्य नहीं बल्कि यथार्थ और विशेष है। इनकी ऐन्द्रिय–बोध अनुभूति और सुनिश्चित होने का अहसास दिलाता है। .... छायावाद की गीतात्मकता जहाँ प्रायः छन्दोबद्ध गेय गीतों में ही मुखरित होती थी, इस नवरोमांटिक उत्थान ने गेय छंदों के अतिरिक्त मुक्त छंद में भी लघु प्रगीतों की रचना को सम्भव बनाया। इस गीतात्मकता का प्राण है – 'अनुभूति की प्रमाणिकता'।"[5]

डॉ. नामवर सिंह ने जिस 'अनुभूति की प्रमाणिकता' को गीतात्मकता का प्राण बताया है वह नई कविता की एक विशेषता भी है जिसमें रचनाकार की ईमानदारी और उसके यथार्थ–बोध का प्रश्न भी निहित है। साहित्य में अनुभूति की प्रमाणिकता का सवाल रचना–प्रक्रिया से संबंधित है और रचना–प्रक्रिया का संबंध जीवन तथा रचना के आत्मसंघर्ष से जुड़ा है। अतः काव्य में रचना का गहन यथाार्थ बोध ही रचनाकार की 'अनुभूति की प्रमाणिकता' की शर्त बन जाती है। छठें दशक की आलोचना में यह एक प्रमुख विवाद है कि रचनाकार और लेखक का यथार्थ–बोध और उसके शिल्प विधान में संबंध कितना और कैसा हो? छायावादी और रसवादी आलोचना इस तरह से 'झंझटों' से अपने को मुक्त रख नए साहित्य की इस नवीन जटिलता से उलझना नहीं चाहती थी। इस समय ऐकेडमिक जगत की समीक्षा में 'प्रयोगवाद', 'प्रगतिवाद' इत्यादि आन्दोलनों को भी एक धोखा और बाहर से आयासित मानकर उन्हें ख़ारिज करने का प्रयास बदस्तूर जारी रहा।

परिवर्तन की लय की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि इसलिए भी कि 'संक्रांति' में मूलतः जो दिमागी बुखार त्वरित होता है वह क्रांति' के सामाजिक आग्रह में नहीं है।....'
'इन लेखों के बारे में, 'छठवां दशक', विजयदेव नारायण साही

5 हिन्दी का गद्य पर्व, नामवर सिंह, पृ.70

'प्रयोगवाद' और 'नई कविता' पर ऐकेडमिक आलोचकों ने गंभीरता पूर्वक विचार ही नहीं किया। 'अनुभूति की प्रमाणिकता' जैसी व्याख्या तो दूर की चीज़ थी। 'उलझी हुई संवदेना', अतिबौद्धिकता', और 'व्यक्तिपरकता' जैसी चीज़े नई कविता में कहाँ से आ गयीं और इनके स्रोत क्या है? इनके स्रोत का पता कुछ आलोचकों ने विदेशी अनुकरण में ढूढा। नन्ददुलारे बाजपेयी ने नई कविता के संदर्भ में लिखा कि – "वे रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितांत असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ़ मन की छाया प्रतिभाषित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिन्दी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकती, यह निहायत विदशी कलम है।"[6] बाजपेयी जी के शब्दों में विदेशी कलम की इस कविता में वह 'नैसर्गिकता' क्या है? जो यहाँ अनुपस्थित है। और वे समाज और व्यवहार के किन तथ्यों से नई कविता की असंपृक्तता की बात कर रहे हैं? इसे समझने के लिए बाजपेयी के इस कथन को भी ध्यान में रखना चाहिए – "नई कही जाने वाली इस कविता की भाव–सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। वह कौन–सी नवीनता है, जिसे साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है?" उन्होंने आगे लिखा– "निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं, जिनकी भावधारा असामाजिक है।"[7] जब हिन्दी में प्रगतिवाद का डंका बज चुका था और प्रेमचंद 'सौंदर्य की कसौटियाँ' बदलने की बात कर चुके थे। सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियों में निर्णायक बदलाव आ रहा था, साहित्य बदल गया और प्रतिमान वही रहा – 'साधारणीकरण' (?)। यह हिन्दी ऐकेडमिक के पिछड़ेपन का एक उदाहरण है। यह कहना विषयान्तर नहीं होगा कि इन्हीं बाजपेयी जी को छायावाद बहुत अधिक पसन्द आया, उसके भी कारण थे कि उसमें बाजपेयी जी की परिभाषा की मानवीयता और आध्यात्मिकता इन दोनों का संगम हुआ।

बहरहाल, एक अन्य प्रमुख आलोचक डॉ. नगेन्द्र भी नई कविता और प्रयोगवाद को महत्व नहीं देते हैं। क्योंकि उनकी इतिहास–दृष्टि साहित्य के परिवर्तन को युगीन शक्तियों से प्रभावित विकास के रूप में नहीं स्थूलता और सूक्ष्मता के संदर्भ में देखती है अतः वे 'प्रगतिवाद' को भी उसके मूल रूप में गलत

---

6 हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, नंद दुलारे बाजपेयी, पृ.182

7 वही, पृ.182

मानते हैं – "सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है, वह साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बंध स्थापित करते हुए उसे रोटी–पानी या जीवन के सामाजिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मानकर बहुत ही सस्ता बना देता है।"[8] इतना ही नहीं, 'नई कविता' के कवि जब अपने भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति काव्य में कर रहे थे और सन् साठ के आस–पास 'अकविता' का जो आन्दोलन आया, वह सब डॉ. नगेन्द्र के लिए काव्य कम अराजकता ज्यादा था। डॉ. नगेन्द्र ने इस संदर्भ में लिखा– "सन् 1960 के बाद 'अकविता' का जन्म हुआ और 'युयुत्सा', 'बुभुक्षा', 'दिगंबरता' आदि अत्याधुनिक काव्य–प्रवृत्तियाँ हिन्दी कविता के क्षेत्र में उभरने लगीं जिनसे नए कवि भी त्रस्त होकर आस्था और संगति की पुनः साधना करने लगे। यह वास्तव में अराजकता की स्थिति है।"[9] डॉ. नगेन्द्र रसवादी आलोचक हैं वे इस अराजकता की स्थिति में कौन से मूल्य प्रतिष्ठित करना चाहते हैं? नामवर सिंह ने इस पर लिखा – "जाहिर है कि अराजकता की इस स्थिति में नई कविता को धराशायी करके पुराने काव्य को पुनः प्रतिष्ठित करने का इससे अच्छा अवसर दूसरा नहीं मिल सकता।"[10]

नन्ददुलारे बाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के आचार्य थे और दोनों की दृष्टि में नया साहित्य मूल्यहीन, अराजक और तुच्छ है। वह किसी 'महान मानवीय उद्देश्य' से परिचालित नहीं है, और न ही उसमें किसी 'शाश्वत एवं सार्वभौमिक' मूल्यों की प्रतिष्ठा ही हो पायी है। दोनों आचार्यों की 'ऐकेडमिक आलोचना' दृष्टि रस के साधारणीकरण तक सीमित रह जाती है। वे बदलती स्थितियों के साथ बदलते मानव मूल्य और साहित्य के दायित्व को सही ढंग से रेखांकित नहीं कर पाते हैं और नए काव्य के प्रति दुरूहता का आरोप लगाते हैं। ऐसे ही प्रध्यापकीय आलोचना को लक्षित करते हुए में रखकर देवीशंकर अवस्थी ने लिखा कि– "विकास की 'डाइलेक्टिक्स' को जो भी व्यक्ति (चाहे वह प्रोफेसर हो या पाठक) अपने मन में नहीं रखेगा वह आधुनिक काव्य के प्रति दुरुहता का आरोप

---

8 उद्धृत, 'हिन्दी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ.160

9 कविता के नए प्रतिमान' नामवर सिंह, पृ.55

10 वही

लगाएगा।"[11] डॉ. नगेन्द्र और नन्ददुलारे बाजपेयी द्वारा 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नई कविता' पर लगाए गए आरोप इसी का परिणाम हैं। छठें दशक की हिन्दी आलोचना में नए–साहित्य की पृष्ठभूमि 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' के मूल्यों की सार्थकता तथा निरर्थकता पर लेख लिखे गए, साथ ही पंरपरा का मूल्याँकन भी हुआ। कुल मिलाकर यह कि आलोचना में 'पॉलिमिक्स' का दौर था जिसमें अलग–अलग विश्वदृष्टियाँ अपने मूल्यों को लेकर संघर्षरत थीं। इन आलोचकों के बीच प्रयोगवादी रचना–धर्मिता और इससे आगे बढ़ी हुई नई कविता के भाव–बोध और शिल्प को लेकर आरोप–प्रत्यारोप की जो कड़ियाँ प्रारम्भ हुई वे काव्यगत मूल्यों एवं प्रतिमानों के निर्धारण तक ही सीमित नहीं रहती थी। कभी–कभी चर्चा का ग्राफ इस स्तर तक आ जाता था कि अमुक कृति साहित्यिक कृति है या नहीं। देवीशंकर अवस्थी जैसे आलोचक तो कृति में मूल्यों के साथ साहित्यिकता और असाहित्यिकता के द्वंद्व को ही इस युग की समस्या बताते हैं। इस समूचे बाद–विवारद की लम्बी श्रृंखला का चरम दिग्दर्शन 'उर्वशी' विवाद (1963–64) में होता है। कहा जा सकता है कि यह विवाद केवल 'उर्वशी' कृति मात्र को लेकर नहीं था। साहित्य और जीवन के मूल्य भी उससे जुड़े हुए थे।

छठें दशक की आलोचना 'अनुभूति की प्रमाणिकता' और 'बिंब–विधान' में फँसी हुई थी। साठोत्तरी साहित्य से टकराने की क्षमता उसमें नहीं थी क्योंकि उस साहित्य के पास तथ्य कम और अनुभूति का सत्य अधिक था। वस्तु, बिम्ब के आवरण में प्रस्तुत हो रही थी परन्तु, "छठें दशक के अन्त और सातवें दशक के आरंभ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्ब–विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा।"[12] अब नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी और ये नए प्रतिमान समकालीन रचना और समकालीन समाज से टकराकर ही प्राप्त किए जा सकते थे। कहना न होगा कि इस दिशा में पहला प्रयास कवि–आलोचकों ने किया। काव्य और साहित्य में आने वाला बदलाव सर्वप्रथम कवि के आत्म संघर्ष से गुजरता है अतः स्वभाविक रूप में हर परिस्थिति और काल के कवियों ने आलोचक के दायित्व का भी निर्वाह किया

---

11 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.50

12 कविता के नए प्रतिमान' नामवर सिंह, पृ.120

है। छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, नई कविता के कवियों द्वारा अपनी रचना–प्रक्रिया और यथार्थ–बोध तथा काव्य–शिल्प पर लिखे गए लेख इसके उदाहरण हैं। 'नयी कहानी' आन्दोलन में नये कहानीकारों ने इस दायित्व का सफलता पूर्वक निर्वाह किया और आलोचना की शुरुआती आँधी जिसमें पिछले युग के संस्कार–कण समाये रहते हैं– से अपनी रचनाशीलता को सुरक्षित रखा।

'प्रयोगवाद' पर अज्ञेय ने तथा 'नई कविता' पर तीन कवि–आलोचकों ने लिखा है – मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, और मलयज। देवीशंकर अवस्थी जब आलोचना के क्षेत्र में आए उस समय मुक्तिबोध 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' झेल रहे थे और काव्य की इस नयी प्रवृत्ति को स्थापित कर रहे थे।

जिसे हिन्दी साहित्य में 'नई कविता' कहा जाता है उसकी शुरुआत लगभग पचास–इक्यावन के बाद होती है। भारत की आजादी और स्वाधीनता संघर्ष में शामिल मध्यवर्ग की आशाएँ, अकांक्षाएँ एवं दुःख–दर्द इस कविता का अंग है। आजादी के पहले अज्ञेय ने सप्तकों के माध्यम से काव्य की जिन प्रवृत्तियों का संकलन किया वह प्रयोगवादी काव्य है। 'संक्रांति' के इस काल में कवियों का व्यक्तिमन अपनी निजता को उजागर कर रहा था। 'प्रयोगवाद' जैसा कि स्वयं अज्ञये ने ही स्पष्ट किया कि यह कोई वाद नहीं। "प्रयोग का कोई वाद नहीं है, हम वादी कभी नहीं रहे अब भी नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साधन है अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक और निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"[13] यह तथ्य भी उल्लेखनीय हो जाता है कि अज्ञेय ने 1943 के 'तार सप्तक' के कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कहा है। प्रगतिवाद में अति सामजिकता का जो आग्रह चौथे दशक में दिखायी पड़ता है प्रयोगवादी कविताएँ उसी आग्रह के प्रति इन्कार के भाव से लिखी गयी व्यक्तिमन की कविताएँ हैं। यह प्रगतिवादी काव्य की क्रिया की प्रतिक्रिया नहीं। प्रयोगवादी काव्य का प्रत्येक कवि अपने युग की जटिलता से परिचित है भले ही वह व्यक्ति के अंतस की बात कह रहा हो। यह युग जिसे इन कवियों ने 'संक्रांति का युग' कहा। अपनी राजनैतिक–सांस्कृतिक गति–विधियों को लेकर काफी महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता की डेहरी पर पहुँचकर इन

---

[13] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ" नामवर सिंह, पृ. 72

प्रयोगवादी कवियों में सिर्फ अज्ञेय ही एकमात्र ऐसे कवि रहे जो वस्तुजगत से आक्रांत होकर नितांत अहं की स्वतंत्रता की रक्षा की बात करते हैं जबकि अधिकांश कवि वस्तुस्थिति के निकट हैं और कुछेक कवियों की कविताओं में प्रगतिवादी के सुर भी सुने जा सकते हैं जिसका दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। बाहर के यथार्थ और अंतस के इस द्वन्द्व की सही पड़ताल इस युग की 'संक्रांति' की अवधारणा से समझा जा सकता है और इस तरह चालीस के आस–पास से रचनाशीलता में जो परिवर्तन आ रहा था, 'नई कविता' के सूत्र वहीं से बन रहे थे।

'संक्रांति' जिसे विजयदेव नारायण साही ने 'छठवा दशक' की भूमिका में इस समय का महत्वपूर्ण शब्द बताया उसकी अनुगूँज हमें इस काल के कवियों, लेखकों और आलोचकों की रचनाओं में दिखायी पड़ती है। आखिर यह 'संक्रांति' क्या है? साही ने भूमिका में स्पष्ट किया कि यह संक्रांति प्रगतिवादियों की 'क्रांति' से भिन्न है परिवर्तन की लय की दृष्टि से नहीं, बल्कि इसलिए कि 'संक्रांति' में मूलतः जो दिमागी बुखर त्वरित होता है, वह क्रांति के सामाजिक आग्रह मैं नहीं है लेकिन इस दिमागी बुखार की पैदाइश किस हवा–पानी से होती है। साही इसे नहीं बताते हैं। बहरहाल यह 'संक्रांति' इस युग की मानसिकता से जोड़कर देखी जा सकती है। इस शब्द के व्यापक प्रयोग को देखते हुए सुधीश पचौरी ने लिखा कि – "संक्रांति' के इस व्यापक प्रयोग से इतना निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि इन कवियों के समक्ष अपने तत्कालीन युग की कोई निश्चित परिकल्पना नहीं है और ये स्वयं खुले दिमाग से चलना चाहते हैं। इस खुलेपन की सीधा अर्थ यही है कि इन पर उभरते मध्यवर्ग एवं संघर्षशील पूंजीपति –वर्ग की उस विचारधारा का असर है जो अभी स्वतंत्रता–आन्दोलन की व्याप्ति में भारत के भविष्य के नक्शे को स्पष्ट नहीं कर पायी थी।"[14] तार सप्तकों के कवियों की कविताओं में यह द्वंद्व दिखायी पड़ता है और नई कविता के मध्यवर्ग की मनःस्थिति के निर्माण की पृष्ठभूमि यही स्थितियाँ थीं जिसे सुधीश पचौरी ने 'युग की कोई निश्चित परिकल्पना नहीं थी' के रूप में देखा है।

---

[14] नयी कविता का वैचारिक आधार' सुधीश पचौरी, पृ.11

'नई कविता' के अधिकांश कवि 'तारसप्तक' में भी शामिल थे और उनकी कविताओं का स्वर निरन्तर वाह्य और भीतर के द्वंद्व से प्रभावित होता रहा है। स्वतंत्रता संघर्ष में निर्मित मध्यवर्गीय आशा और अकांक्षा का जो द्वंद्व यथार्थ के रूप मे फलीभूति हुआ 'नई कविता' उससे गहरे रूप में जुड़ी है अतः कहा जा सकता है कि नई कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि के निर्माण में देश की आजादी और विकास की रास्ता ही वह पहला बिंदु है जो इन कवियों के मानस को मथ रहा था। फिर यह अकारण नहीं है कि 'तार–सप्तक' के अधिकांश कवियों में बदली स्थितियों में नए मध्यवर्ग की नयी भूमिका को लेकर एक वैचारिक व्याुकलता दिखायी पड़ती है। नई कवियों की यह चिंता चौथे दशक की 'संक्रांति' की चिंता से जुड़ जाती है और वे इस स्थितियों की जटिलता से बेचैन और व्याकुल हो उठते हैं। 'प्रगतिवाद' और 'नई कविता' की एकसूत्रता इस रूप में स्थापित होती है। डॉ. सुधीश पचौरी ने इस समय के नए मध्यवर्ग की चिन्ताओं पर विचार करते हुए इस एकसूत्रता की सही पड़ताल की है। 'तारसप्तक' के कवियों के संदर्भ में वे लिखते हैं कि – "अज्ञेय ओर रामविलास शर्मा को छोड़कर शेष कवियों और उनमें भी नेमिचन्द जैन एवं मुक्तिबोध के वक्तव्यों में जिस दुहरे संघर्ष के प्रति एक सचेतन आग्रह है, वह प्रगतिवादी आन्दोलन के एक नए चरण का संकेतक व उद्घोषक है, जिसे सर्वाधिक दूर तक मुक्तिबोध ने चलाया। यहीं पर प्रगतिशील आंदोलन नई कविता से जुड़ता है।"[15]

'प्रयोगवाद' जिसे अज्ञेय हमेशा 'वाद' के घेरे में बाँधने से इन्कार करते रहे। उसमें किसी दर्शन और विचारधारा से अलग व्यक्तिगत सत्य की स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्ति की गयी। 'प्रगतिवाद' और 'नई कविता' में जिस मध्यवर्ग की चिन्ता की चर्चा सुधीश पचौरी करते हैं वही मध्यवर्ग इस प्रयोगवादी काव्यधारा का भी संचालक है लेकिन उसकी दृष्टि पूंजीवाद की ओर झुकी है। मुक्तिबोध और नेमिचंद जैन जैसे कवियों का संघर्ष इसी पूंजीवादी संस्कृति में पिसते शिक्षित मध्यवर्गीय युवकों का संघर्ष है। कविता में जिस बौद्धिकता का प्रवेश हमें 'तारसप्तक' की रचनाओं में प्रस्फुटित होता दिखायी देता है वह नई कविता तक व्याप्त है। दूसरे सप्तक के प्रकाशन के साथ हिन्दी में जिस प्रयोगवाद की चर्चा शुरु हुई उसकी स्थिति

---

15 वही, पृ.60

तारसप्तक से भिन्न थी। मुक्तिबोध में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा – "'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' में स्थिति तथा व्यक्ति का बहुत बड़ा भेद है। दूसरे सप्तक वालों को अच्छी परिस्थितियाँ मिली थी। साथ ही, तब तक तारसप्तक वाले भी काफी आगे बढ़ चुके थे। इसलिए जिन प्रश्नों को लेकर तारसप्तक वाले आगे बढ़ उन प्रश्नों को लेकर दूसरा सप्तक वाले नहीं। तारसप्तक वालों की रोमांस–भावना की आयु, बहुत अंशों में छायावाद में ही बीत चुकी थी। वे अपनी छायावादी अवधि पार कर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए प्रयोगवादी थे। तो 'दूसरा सप्तक' वाले अपनी नवीन रोमांटिक भावनाएँ लेकर प्रयोगवाद में आए। 'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' में यह एक मौलिक अंतर है।"[16] मुक्तिबोध ने काव्य प्रवृत्तियों के विकास को ऐतिहासिक निरन्तरता में देखा है और सप्तकों की श्रृंखला में भाव–बोध का जो बदलाव आ रहा था उसे पहचानने की कोशिश की है।

मुक्तिबोध 'नई कविता' के कवि हैं, उनकी दृष्टि कविता में आने वाली नवीनता के मूल स्रोत को हमेशा ध्यान में रखती है। वे सामाजिक विकास के द्वंद्वात्मक क्रम में चेतना के बदलते रूपों को पहचानने वाले कवि आलोचक हैं। उनका काव्यात्मक संघर्ष इसी आधार पर आगे बढ़ता है जिसमें वे एक ओर प्रगतिवाद के निरे समाज शास्त्र को चुनौती देते है। तो दूसरी ओर 'जड़ी भूत सौन्दर्याभिरूचि' को भी मानने से इन्कार करते हैं। इस क्रम में वे 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्म्क ज्ञान' के दुहरे संघर्ष को स्वीकार कर काव्य और आलोचना के क्षेत्र में उतरते हैं। 'नई कविता' के स्वरों में जो विविधता थी मुक्तिबोध उससे परिचित थे। नए समाज के निर्माण में जो महत्वपूर्ण तत्व बौद्धिकता के रूप में उभरा। साहित्य में भी इस बौद्धिकता का प्रभाव पड़ा। 'नई कविता' का पूरा विन्यास जो गद्यात्मक रूप धारण कर लेता है उसके मूल में यह बौद्धिकता ही है। 'नई कविता' का कवि अपने बौद्धिक वातावरण के तनाव से परिचित है और न सिर्फ परिचित है बल्कि अपने भीतर उसके वाह्य पक्ष और अपने मन के अन्तःपक्ष के द्वंद्व से भी गुजरता है। कवि के मानस में सामाजिक प्रश्न अन्तःस्थितियों के साथ तनाव के रूप में जुड़ जाते हैं। और इस तरह कविता अन्तः का प्रकटीकरण होकर भी

---

[16] नयी कविता का आत्म संघर्ष' मुक्तिबोध, पृ.96

सामाजिक स्थितियों से बेखबर नहीं रहती। मुक्तिबोध ऐसे ही कवि हैं जो नई कविता को वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्म–चेतस् व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया मानते हैं। वे काव्य को आत्मिक प्रयास के रूप में देखते हैं लेकिन उनके लिए यह आत्मिक प्रयास काव्य रचना की प्रक्रिया को व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं करता बल्कि वह उसे एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में स्थापित करता है। 'आत्म चेतस' से 'विश्वचेतस' तक की यात्रा मुक्तिबोध अपनी काव्य और आलोचना में 'वाह्य के आभ्यंतरीकरण' के द्वारा पूरी करते हैं। नयी कविता के विविध स्तरों में उनका स्वर अलग और विशिष्ट है तो इसी रूप में। इस आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया को मुक्तिबोध कवि के लिए आवश्यक बताते हैं। 1960 के आस–पास लिखे एक निबंध में उन्होंने स्पष्ट किया कि–

> *"बाह्य का आभ्यंतरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यंतरीकरण, बचकाने ढंग से, दूषित अवैज्ञानिक रूप से और मनो–विकृतियों से ग्रस्त होकर किया गया हो, तो तुरन्त ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसीलिए कवि के लिए सतत आत्मसंस्कार आवश्यक है, जिससे वाह्य का आभ्यंतरीकरण सही–सही हो।"*[17]

मुक्तिबोध ने अपनी इस मान्यता के आधार पर 'नई कविता' के विविध स्वरों को पहचाना और उसके अधूरेपन की भी रेखांकित किया। उन्होंने दूसरे सप्तक के कवियों का काव्य–प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजन किया। वैचारिक स्तर पर वे पहले ही अज्ञेय और धर्मवीर भारती को प्रगतिशीलता का विरोधी घोषित कर चुके थे। काव्य –प्रवृत्तियों के संदर्भ में उनका वक्तव्य है कि – "काव्य –प्रवृत्तियों की दृष्टि से, यह कहा जाना चाहिए कि इनके फिर दो विभाग हो जाते हैं। एक में प्रमुखतः सौन्दर्यवादी ही आते हैं। जैसे, गिरिजाकुमार माथुर, नरेशकुमार मेहता, और कुछ अंशों में, हरिनारायण व्यास, तथा सच्चिदानन्द वात्स्यायन। दूसरे पक्ष में

---

17 वही, पृ.56

आभ्यन्तर प्रतीकात्मक चित्रण ही अधिक होता है, जिनमें मुख्य हैं वात्स्यायन, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती आदि।"[18]

'नई कविता' को मुक्तिबोध नवीन परस्थिति की उपज मानते हैं और उसकी वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भविष्यवाणी करते हैं कि – "हिन्दी साहित्य में नयी कविता का प्रसार होता जा रहा है उसे कोई रोक नहीं सकता।" ऐतिहासिक स्थितियों की अनिवार्यता से बाख़बर इस कवि–आलोचक की यह टिप्पणी उन संस्थानबद्ध आलोचकों के इतिहास बोध पर सवाल खड़ा करती है जो इन नयी आहटों से बेखबर अपनी रहस्य की कुटिया में 'साधारणीकरण' की धुनी रमाए बैठे थे।

देवीशंकार अवस्थी की दृष्टि में मुक्तिबोध एक बड़े कवि हैं और उनका यह बड़प्पन उनके संघर्ष की उपज है जो उन्हें समाज की विकसनशील अवस्था का सहयात्री बनाए रखता है। सामाजिक विकास की ऐतिहासिक समझ और उसकी द्वन्द्वात्मक पहचान मुक्तिबोध को अपने समकालीनों से भिन्न और विशिष्ट बना देती है। कविता और आलोचना की विशिष्टता की चर्चा करते हुए अवस्थी जी ने नई कविता के इस महान कवि की तुलना अंग्रेजी के कवि डब्ल्यू.वी. येट्स से की है। नई प्रवृत्तियों की पहचान कर यदि मुक्तिबोध ने अपने अपनी ज्ञान और संवेदना के द्वंद्व को सार्थक बनाया तो देवीशंकर अवस्थी ने इस कवि की प्रतिभा की विशिष्टता को स्पष्ट कर अपने जाग्रत आलोचनात्मक विवेक का परिचय दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि मुक्तिबोध यद्यपि आधुनिकतावादी कविताओं के प्रारंभकर्ताओं में से एक हैं, पर उसके शोरगुल और वाद–विवाद से वह अलग रहते आये हैं। और इस प्रकार उपक्षित भी रहे हैं। पर भीतर–भीतर यह असंपृक्त कवि अपने पूरे समसामयिक जीवन और परंरा से प्रतिबद्ध रहा है। और इन सभी आंदोलनों की उपलब्धियों को समेटता रहा है।

विजयदेव नारायण साही और मलयज दोनों कवि भी हैं और आलोचक भी। छठवें, सातवें दशक में स्थापित व्यक्तिवादी कलावादी साहित्यकारों की संस्था 'परिमल' के सदस्य भी थे। साही का संबंध अज्ञेय द्वारा संपादित सप्तकों की परंपरा

---

18 वही, पृ.132

से भी है। वे कला और साहित्य को राजनीति और समाजशास्त्र से सर्वथा अलग रखने के हिमायती हैं। उन्होंने हिन्दी कविता की विकास परंपरा के साथ कविता तथा साहित्य में आने वाले परिवर्तनों की परीक्षा की है। इस परीक्षण का आधार उन्होंने 'लघु मानव' की संकल्पना' को बनाया है। साही का 'लघुमानव' उनके अनुसार हिन्दी कविता की विकास यात्रा का केन्द्र बिन्दु रहा है। यह सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता – वह केवल उस केन्द्रीत–कालबद्ध, जाल में फँसी हुई सीमित झलक की पकड़ता है जहाँ से सहज आभासित होता है। साहित्य और कला संबंधी उनकी मान्यताएँ इसी विचार–सूत्र से निर्मित हुई है। 'नई कविता' की नवीनता की खोज वे हिन्दी कविता का परंपरा के साथ करते हैं। वे अध्यात्म और दार्शनिक सत्य को कविता में महत्व देते हैं इसीलिए छायावादी कविता उन्हें प्रिय लगती है। 'नयी कविता' के कवि आलोचक साही ने 'नई कविता' में इस छायावादी आध्यात्मिकता की अनुपस्थिति को उसकी एक कमजोरी के रूप में चिन्हित किया है। उन्होंने लिखा – "नई कविता' की 'आन्तरिकता' उस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है जिस अर्थ में छायावाद की 'आन्तरिकता' आध्यात्मिक या अर्द्धा –आध्यात्मिक है।"[19] इसका कारण उन्होंने नई कविता की पृष्ठभूमि के साथ उन कवियों, लेखकों की विचारधाराओं में खोजा है जो छायावाद के बाद और नई कविता के मध्य में रचनाशील थे। काव्य की आन्तरिकता में 'अध्यात्मिक मुद्रा' की अनुपस्थिति के लिए जिम्मेदार कौन है? साही का कहना है – "इस 'आध्यात्मिक मुद्रा' का विनाश किसने किया? पहले पापियों में आज के नये कवि या नये कहानीकार या नये उपन्यासकार नहीं आएँगे। जड़ खोदने का काम तो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही शुरु किया था। अज्ञेय और उनके साथ या बाद वालों ने तो सिर्फ मठ्ठा डाला है।"[20] साही की दृष्टि में काव्य की रचना–प्रक्रिया में पराभौतिक तत्व निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। स्वतंत्रता संघर्ष के युग से लेकर नई कविता तक उन्होंने जो एक ढाँचा तैयार किया है उसके मूल में दो व्यक्तियों की दार्शनिकता का योग दिखायी पड़ता है। इसमें से पहले व्यक्ति हैं– महात्मा गांधी और दूसरे –रवीन्द्र नाथ टैगोर। गांधी और टैगोर दोनों समय के महामानव थे। और जीवन में

---

19 छठवा दशक, विजयदेव नारायण साही, पृ.266

20 वही

आध्यत्मिकत को महत्व देते थे। यही नहीं उनकी दार्शनिक प्रणाली और उस प्रणाली से निकली सामाजिक, राजनैतिक परिकल्पनाएँ 'मेटाफिजिकल तत्व' से संपृक्त रहती थी। विजयदेव नारायण साही ने इन दोनों व्यक्तित्वों को हिन्दी साहित्य की सर्जनशीलता पर निर्णायक मोड़ देने वाला माना है। इसके अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश की मनोभूमि के निर्माण में वे जिस तीसरे व्यक्तित्व को महत्त्व देते हैं वह हैं – दयानंद सरस्वती। हिन्दी क्षेत्र की परंपरा और ऐतिहासिक अनुभव के भिन्न चरित्र के निर्माण में साही ने दयानंद सरस्वती का महत्वपूर्ण योग माना है। उत्तर प्रदेश ही छठवें दशक में रचना की विविधता और राजनीति की सरगर्मी का अडडा क्यों बना उसका कारण यह पृष्ठभूमि थी जिसमें "बगाल की पुरवैया शरतचन्द्र को और रवीन्दनाथ टैगोर को लाती है और पछुआ दयानद सरस्वती को।"इस मनोभूमि की उत्तरोत्तर विकसित होती काव्य परंपरा ही सन् 50के बाद 'नई कविता' के नाम से जानी गयी।

विजयदेव नारायण साही इस तरह 'नई कविता' के आरम्भ की सूत्रता की खोज छायावदोत्तर काव्य से करते हैं। तीसरे दशक में कवियों की भीतरी मनोभूमि में आने वाला परिवर्तन जो भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र शर्मा आदि के काव्य में दिखाई पड़ता है। साही यहीं से नई कविता का आरम्भ मानते हैं। उन्होंने इसे छायावाद और नई कविता के बीच एक मंजिल बताते हुए लिखा – "जिसे आलोचकों ने छायावाद का दूसरा दौर कहा है, इसे हम छायावाद का शोषांश की कह सकते हैं या नयी कविता का आरम्भ भी। यह सही है कि यदि हम इन कवियों और लेखकों को ध्यान से देखेंगे तो छायावाद और 'नयी कविता' के बीच दुर्लध्य खाईं के बजाय एक क्रमशः विकसित होती हुई परम्परा दिखलाई पड़ेगी और छायावाद के 'महामानव' और आज के 'लघु मानव' के बीच इतनी सख्त फ़ौजदारी होती हुई भी नहीं मालूम पड़ेगी।"[21]

विजयदेव नारायण साही जिस परम्परा, निरन्तरता और इतिहास के बहाव के साथ साहित्य में आने वाले नयेपन को पकड़ते हैं उसकी परिणति 'अध्यात्मिक अनुपस्थिति' के रूप में नई कविता के भावबोध में होती है। 'आध्यात्मिक मुद्रा' ही

---

[21] वही, पृ.279

काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी हो सकती है यह विचार उस ओर ले जाने वाला है जहाँ से कला और साहित्य पराभौतिक प्रेरक तत्वों के सम्मिलन से बने हुए माने जाते हैं फिर साहित्य में 'सार्वभौमिक' मानव–सत्य और 'शाश्वत' मूल्य की प्रणालियों का आग्रह शुरु होता है।[22] 'सार्वभौमिक' और 'शाश्वत' शब्दों की निर्मित ही परिवर्तन विरोधी शक्तियों के द्वारा हुई। अतः साहित्य और कला में राजनीति का निषेध कर दिया जाता है। यही से 'कला कला के लिए' के मार्ग प्रशस्त होता है। साही ने लघुमानव पर बल देकर कविता की जो परंपरा बनायी वह गांधी, नेहरू, दयानंद सरस्वती और टैगोर, के विचारों से निरंतर परिवर्तित और बदलती रही है। लेकिन उन्होंने साहित्य को राजनीति से सर्वथा पृथक माना है, यह साहित्य की राजनीति नहीं है(?) मुक्तिबोध ने इसे लक्षित करते हुए लिखा कि – "कवियों में असंगत और विचित्र सामाजिक–राजनैतिक भाव प्रचारित किये गये, यद्यपि एक ओर यह कहा गया कि कलाकार को सामाजिक–राजनैतिक प्रचार से बचना चाहिए।"[23]

साहित्य की बदलती लय में चीजें बदल रही थी, राजनीति उसके अंतस का अंग बन चुकी थी अब काव्यशास्त्र के शास्त्रीय प्रतिमानों से न तो साहित्य को समझा जा सकता था और न ही नया कवि उसकी रक्षा अपनी रचना–प्रक्रिया में कर पाता है। 'अनुभूति की प्रमाणिकता', लेखक की ईमानदारी, आत्म–सत्य और संकल्प एवं 'मर्म वेदना' के जो तत्व नयी कविता में क्षणों में सामने आए उसमें आध्यात्मिकता और रहस्य का वैसा समावेश नहीं था जैसा कि छायावाद के समय लिखी गयी रहस्यवादी कविताओं में। नया भाव–बोध जहाँ रचनाकार के लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति के द्वंद्व को और जटिल बना रहा था वहीं आलोचक के लिए भी कम मुश्किलें खड़ी नहीं कर रहा था। एक अन्य कवि–आलोचक मलयज ने

---

22 साहित्य और कला में 'शाश्वत' और 'सार्वभौम' मूल्यों की प्रणाली परिवर्तन की विरोधी होती है। आलोचना में प्रचलित इस मूल्य प्रणाली पर मुद्राराक्षस ने लिखा है कि – *"यह शाश्वत और सार्वभौम बड़ा दिलचस्प गोरखधंधा हैं इतिहास में अवसर विचारकों में सार्वभौम और शाश्वत का आश्रय लिया है। ज्यादातर वे इन दो शब्दों की आड़ लेकर इतिहास और संस्कृति में परिवर्तन और विकास के महत्व को छौटा करने की कोशिश करते रहे हैं। हिन्दी में पचास के उसी दशक में इन शब्दों की भरमार वामपंथ विरोधी आलोचना में रही है जो इत्तफाक से नये साहित्य की वकालत करती थी।"*
–आलोचना का समाजशास्त्र', मुद्राराक्षस, पृ.41–42

23 समीक्षा की समस्याएँ, मुक्तिबोध, पृ.61

साहित्य में आए इस परिवर्तन को पहचाना और उसकी मूल्यचिंता को संस्कृत की काव्यशास्त्रीय मूल्यचिंता से भिन्न बताया।

'नई कविता' के कवियों में ऐन्द्रिक संवेदनों से अनुभूति–सत्यों और मूल्यों की यात्रा चलती है तथा मूल्यों का निर्माण अनुभूतियों के भीतर से होता है। इस आधुनिक काव्य की नयी पीढ़ी में मूल्यों का जो क्रम है उसे मलयज 'मूल्य –रिफ्लक्सेज' कहते हैं। मूल्य और 'मूल्य रिफ्लेक्सेज' में क्या अन्तर है उन्होंने लिखा – "मुझे लगता है आज की पीढ़ी के सामने मूल्य न होकर 'मूल्य–रिफ्लेक्सेज' हैं, जो उनकी अनुभूतियों को परिचालित करते हैं। मूल्य और 'मूल्य–रिफ्लेक्सेज' का अंतर यह है कि मूल्य अर्जित किए जाते हैं और उसका एक स्थायी रूप होता है। (जो मूल्य झूठे पड़ जाते हैं उनका भी स्थायी रूप 'स्मृति' में होता है) जबकि 'मूल्य–रिफ्लेक्सेज' परिवेश के साथ व्यक्ति के गतिशील संबंधबोध में ही अस्तित्व रख सकते हैं। ...'मूल्य रिफ्लेक्सेज' एक ऐसी खोखल है जिसमें से मूल्य उठ चुका है, लेकिन जो अपने अन्–आकारात्मक अस्तित्व के कारण ही व्यक्ति में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है।"[24]

नई कविता में बदल रहे यथार्थ–बोध और उसकी प्रवृत्तियों की पहचान के क्रम में कवि और कविता के मूल्याँकन पर लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा रस–सिद्धान्त या प्राचीन काव्यशास्त्रीय पद्धतियों के प्रस्ताव को ख़ारिज करते हुए मलयज ने स्पष्ट किया कि – "रस–सिद्धांत या प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से कला सृजन का मूल्याँकन करने की बात आज की पीढ़ी के लिए इतनी बेमानी और वाहियात सिद्ध हो चुकी है कि उस पर लक्ष्मीकांत वर्मा की–सी गम्भीरता से चर्चा या बहस करना हस्यास्पद है।"[25] नई कविता में जिस तरह जीवन में एक–एक क्षण को महत्व देकर जीवन की एक–एक अनुभूति को, एक–एक व्यथा को, एक–एक सुख को सत्य मानकर जीवन की सघनता की स्वीकृति दिखायी पड़ती है उसका 'सार्वभौम' और 'शाश्वत' मूल्यों की संस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। मलयज इस बात को समझते हैं और इसी के साथ उनका काव्य–बोध और आलोचनात्मक विवेक

---

24 कविता से साक्षात्कार, मलयज, पृ.157

25 वही, पृ.158

विकसित होता है। उनके युग–बोध का ही परिणाम रहा कि वे साहित्य में श्लील और अश्लील के प्रश्न को भी निरर्थक मानते हैं। व्यक्तिमन जो क्षण–जीवी होकर नई कविता में आ रहा था उसमें जीवन को भोगने की लालसा ने इस श्लील और अश्लील के अंतर को मिटा दिया मलयज मानते हैं कि इन प्रश्नों पर "दिमागी कसरत के लिए स्कूली 'डिबेट' तो की जा सकती है, पर अपनी प्रकृति के इस शाश्वतपन के कारण ही ऐसे प्रश्न आज की पीढ़ी की प्रौढ़ मनः स्थितियों में ऊब पैदा करते हैं।"[26]

नए काव्य के मूल्याँकन में पुराने निकष कितने उपयोगी और अनुपयोगी होते हैं मलयज इसे व्यक्तिमन की बदलती स्थितियों तथा साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों की बदलती लय को ध्यान में रखकर करते हैं। नए काव्य में वातावरण संघर्षों, तनाव, अंतर्विरोधिनी प्रवृत्तियों, अनश्चियों, तथा पुरानी प्रवृत्तियों के विरोध का भाव समाहित है। जिसके लिए किसी बंधी –बंधायी प्रणाली से अलग आज के संदर्भ को ध्यान में रखकर प्रतिमान के निमाण की बात मलयज करते हैं।

नए साहित्य के विवेचन–विश्लेषण में किसी आलोचक की क्या मूल्य चिंता और साहित्य के साक्षात्कार के साथ क्या प्रश्नाकुलता होनी चाहिए। यह सवाल छठवें दशक की आलोचना में प्रमुख रूप से उभरा जिसे मलयज, मुक्तिबोध और देवीशंकर अवस्थी जैसे आलोचक समय के साथ परिभाषित करते हैं। यह आलोचना में रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण का भी युग था। जिसके माध्यम से कवियों की 'अन्तःवृत्ति का सूक्ष्म–व्यवच्छेद' किया गया। नए काव्य के अध्ययन के साथ रचना के संदर्भ और उसकी आन्तरिक बनावट में संदर्भ की ऐतिहासिक भूमिका की परख भी इस काल की आलोचना का दायित्व बन गया। क्योंकि जटिल रचना–विधान की संकुलता को समझने के लिए सामान्य पाठक की यह जरूरत थी। जिसे साही ने "रेडियो की सूई को उचित लहर मान पर लगा देने" को आलोचना कर्म की सार्थकता के रूप में देखा। देवीशंकर अवस्थी ने इससे भिन्न और गम्भीर दायित्व का भार आलोचक पर सौंपते हुए बताया कि नयी रचना को केन्द्र में रखकर आलोचक के सोचने की बात यह है कि "ऐतिहासिक प्रक्रिया के किस युग से हम

---

[26] वही, पृ.168

गुजर रहे हैं? वे कौन–सी परिस्थितियाँ है जो एक ओर लेखक के मस्तिष्क को आक्रांत करती हैं और दूसरी ओर पाठक की अभिभूत करती हैं तथा वे कौन से अन्तर्विरोध हैं जो कवि के मस्तिष्क को ही विभक्त नहीं करते बल्कि पाठक और कवि को भी जुदा–जुदा कर देते हैं?"[27] यह प्रश्नाकुलता आलोचना की अनिवार्य शर्त है। जिसके बगैर किसी काव्य–प्रवृत्ति की नवीनता और उसकी ऐतिहासिक अनिवार्यता को नहीं समझा जा सकता।

'नई कविता' के इन कवि आलोचकों के अतिरिक्त जिन दो अन्य आलोचकों ने साहित्य की इस नई प्रवृत्ति को अपने विवेचन का आधार बनाय उनमें रामविलास शर्मा और नामवर सिंह का नाम प्रमुख है। दोनों आलोचक प्रगतिवादी धारा से सम्बद्ध हैं और देवीशंकर अवस्थी के समकालिक भी। यद्यपि उम्र के लिहाज से राम विलास शर्मा और नामवर सिंह दोनों अवस्थी जी से बड़े थे तथापि नई कविता और नई कहानी के मूल्याँकन के उस दौर में इन तीनों आलोचकों के बीच 'विवाद–विवादी–संवाद' लगातार जारी रहा। रामविलास शर्मा ने नई कविता पर और नामवर सिंह ने नई कहानी पर अपनी बेबाक टिप्पणी से इस युग की आलोचना में 'पॉलिमिक्स' को बनाए रखा। दोनों आलोचक मार्क्सवादी होकर भी विभिन्न मुद्दों पर अलग राय रखते हैं और साहित्य की प्रगतिशील धारा का समर्थन कर साहित्य को सामाजिक बदलाव के साधन के रूप में देखते हैं। 'प्रगतिशीलता' का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है जो जीवन और जगत की समस्त चीजों में एक आवश्यक संबंध की व्याख्य करता है। इन आलोचकों की आलोचना पद्धतियों में इसका व्यावहारिक उदाहरण उपलब्ध है। देवीशंकर अवस्थी मार्क्सवादी नहीं थे और न ही मार्क्सवादी दर्शन से उनका छत्तीस का आँकड़ा था। वे द्वन्द्वात्मक स्थिति को स्वीकार करते हैं और साहित्य के 'सौन्दर्यात्मक मूल्यों' की परीक्षा में उसका ख्याल रखते हैं। उनकी आलोचना में कलावाद और व्यक्तिवाद के सूत्र कहीं नहीं हैं। उन्होंने जिस संतुलित आलोचना प्रणाली का विकास नये साहित्य के अध्ययन के क्रम में किया वह साहित्य में प्रगतिशील मूल्यों को महत्व देने वाली है। नई कविता

---

[27] आलोचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.102

का मूल्याँकन उन्होंने इसी पद्धति पर किया और दिनकर द्वारा लिखी गयी 'उर्वशी' को असफल एवं छिछला प्रयोग करार दिया।

'नई कविता' को डॉ. रामविलास शर्मा ने अस्तित्ववादी दर्शन से जोड़कर देखा और उसकी परख तत्कालीन परस्थितियों में उत्पन्न अस्तित्व के संकट की प्रतिक्रिया के रूप में किया। अस्तित्वादी दार्शनिक सार्त्र के उपन्यास 'उबकाई' (अंग्रेजी में 'नौशिया') के नायक रोकांतै के अस्तित्व से जूझते चरित्र से 'नई कविता' के कवियों की तुलना करते हुए उन्होंने नये कवियों के भाव–बोध पर सवाल उठाया है। दर्शन में भौतिकवाद को मान्यता प्रदान करने वाले डॉ. शर्मा काव्य–बोध के स्तर पर सर्वथा नवीन विम्ब, प्रतीक एवं उपमानों को कवियों की बीमार मानसिकता से जोड़कर देखते हैं। श्रीकांत वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, राजकमल चौधरी और मुक्तिबोध की कविताएँ उन्हें विक्षिप्त भाव–बोध की जान पड़ती है। नई कविता के कवियों के संबंध में उन्होंने लिखा कि – "हिन्दी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतै जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे–बुरे सपने, बास, आत्महत्या की चाह, सडाँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि–आदि लच्छन इनमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी–कभी हर चीज बीमार नजर आती है; इन कवियों को चीज़े बीमार ही नहीं, मुर्दा भी नजर आती है।"[28] यहाँ डॉ. रामविलास शर्मा वामपंथ की जड़ता के चलते नए कवियों की कविताओं को अस्तित्ववादी दर्शन के साथ मजाकिया अंदाज में खारिज कर देते हैं। मुक्तिबोध जो नई कविता के प्रमुख कवि हैं। जिनका संघर्ष, 'नई कविता' के भीतर भी था और उसके बाहर भी। मुक्तिबोध अपनी आलोचना से कवि, रचनाकार के साथ आलोचक को भी विकासमान स्थितियों एवं परिस्थितियों के मध्य पिसते शिक्षित मध्यवर्ग के आत्मसंघर्ष का बयान कर रहे थे। डॉ. रामविलास शर्मा को उनका दुःख–दर्द और जटिल परिस्थितियों के मध्य पीड़ित शिक्षित मध्यवर्ग की पीड़ा समझ मे न आ सकी जो अपने अस्तित्व की लड़ाई बदली हुई दशाओं में लड़ रहा था। डॉ. शर्मा ने मुक्तिबोध को 'सीजोफ्रेनिया' को रोगी बताया और इस नए कवि को रहस्यवादी, भाववादी अस्तित्ववादी घोषित करते हैं। मुक्तिबोध की

---

28 'नई कविता और अस्तित्ववाद', रामविलास शर्मा पृ.115

'अस्मिता की खोज' की कविता को रहस्यवादी अस्तित्ववादी और जादू–टोने की तिलस्मी दुनिया से जोड़कर डॉ. शर्मा ने यह स्थापना भी दी कि मुक्तिबोध उस ज्ञान से उकता उठे थे जो सतत विकासमान हो। मुक्तिबोध 'पूर्णज्ञान' की तलाश में थे और रामविलास शर्मा के अनुसार 'ऐसा ज्ञान रहस्यवाद ही दे सकता था।' रामविलास शर्मा हिन्दी में जिस प्रगतिवादी आलोचना के प्रणेता बने वह अपनी परंपरा में भारतेन्दु, तुलसीदास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, निराला और प्रेमचंद सभी को एक लाइन से (बगैर उनके समय के अन्तर्विरोधिनी स्थितियों को समझे) प्रगतिशील घोषित करने वाली प्रणाली है। अगर उसमें मुक्तिबोध जैसा कवि रहस्यवादी हो जाए तो आश्चर्य ही क्या? यह रहस्य तो आलोचना के 'दरोगेपन' के स्वभाव का लक्षण है जिसकी चर्चा मुक्तिबोध 'एक साहित्यिक की डायरी' में करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'अंधेरे में' कविता को रहस्यवादी और विच्छिप्त मानसिकता की कविता कहा है उसी को डॉ. नामवर सिंह ने आधुनिक मानव की अस्मिता की खोज के रूप में पहचानते हुए मुक्तिबोध के काव्यात्मक संघर्ष की जटिलता को समझने का प्रयास किया है। नामवर सिंह ने लक्षित किया कि यह कविता अस्मिता की खोज में व्यक्तिवादी कवियों की तरह आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नहीं है बल्कि इसमें तो वास्तविक जीवन का यथार्थ परिवेश जीवंत हो उठा है। 'अंधेरे में' कविता को 'परम अभिव्यक्ति की खोज' के रूप में देखकर नामवर सिंह ने लिखा कि –"अंधेरे में', कविता की अंतिम पंक्तियाँ उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है अस्मिता की खोज; किन्तु कुछ अन्य व्यक्तिवादी कवियों की तरह इस खोज में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नहीं, बल्कि गली,–सड़क की गतिविधि, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव–चरित्रों की आत्मा के इतिहास का वास्तविक परिवेश है। आज के व्यापक सामाजिक संबंधों के संदर्भ में जीने वाले व्यक्ति के माध्यम से ही मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता में अस्मिता की खोज को नाटकीय रूप दिया है।"[29]

---

[29] 'कविता के नए प्रतिमान', नामवर सिंह, पृ.221

नामवर सिंह ने मुक्तिबोध को केन्द्र में रखकर 'कविता के नए प्रतिमान' बनाए और छायावादी काव्यबोध और रसवादी आनंदवादी मूल्याँकन प्रणाली का विरोध कविता में आत्मसंघर्ष को महत्व देकर किया। इस तरह उन्होंने नई कविता को उसकी कमियों एवं विशेषताओं के साथ रेखांकित किया। नई कविता के दो दलों में मुक्तिबोध द्वारा किये गये आंतरिक असंगतियों के विरूद्ध संघर्ष को महत्ता प्रदान करते हुए उन्होंने यह संकेत भी किया कि मुक्तिबोध द्वारा नई कविता के दौर में निचले गरीब मध्यवर्ग से संबंधित भाव–बोध का डटकर पक्ष समर्थन की कोशिश उनकी जागरूकता का परिणाम है। 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक में एक ओर जहाँ छायावादी पूर्वाग्रहों के विरूद्ध संघर्ष है वहीं दूसरी ओर नई कविता के भीतर के पूर्वग्रहों के विरूद्ध संघर्ष। दुहरे संघर्ष की प्रतीक इस पुस्तक को उचित संदर्भ में देखना चाहिए। नामवर सिंह का लक्ष्य बात इस बात पर ज्यादा रहा है कि आलोचना के प्रतिमान और निष्कर्ष से ज्यादा महत्वपूर्ण उन तक पहुँचने की प्रक्रिया होती है।

एक ही कवि और काव्य–प्रवृत्ति को लेकर जो द्वैध भाव हमें इस समय की आलोचना में मिलता है वह इस समय की प्रगतिशील आलोचना के स्वयं के अन्तर्विरोधों का परिणाम कहा जा सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह दोनों मार्क्सवादी आलोचक हैं फिर भी मुक्तिबोध और नई कविता के संबंध में उनकी राय परस्पर भिन्न ही नहीं, विरोधी भी है। इसका कारण वही विश्लेषण की पद्धति और प्रक्रिया का अलगाव है जिसे नामवर सिंह निष्कर्ष या परिणाम से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। इसका एक दूसरा भी पक्ष था जिसकी ओर मुद्राराक्षस ने संकेत किया है। यह था स्वयं मार्क्सवादियों द्वारा मार्क्सवाद की अपनी अलग–अलग समझ और उस समझ को सही ठहराने का दावा। मुद्राराक्षस ने इस दौर की वामपंथी आलोचना पर लिखा – "दूर तक प्रभाव डालने वाली बहस खुद वामपंथी या प्रगतिशील समाजशास्त्रीय आलोचकों के बीच उस दौर में खासी लंबी चली थी ... इस बहस में डॉ. राम विलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव प्रमुख थे। यह बहस जितनी तीखी थी उतनी ही हास्यास्पद भी थी, क्योंकि इस समूची बहस के केन्द्र में दो सवाल थे; कौन गलत और दूसरा सवाल –हिन्दी साहित्य की

मार्क्सवादी समझ किसमें है और किसमें नहीं।"[30] यद्यपि इस विवाद में नामवर सिंह प्रत्यक्षतः शामिल नहीं थे लेकिन इस वामपंथी अन्तःसंघर्ष में मूल्यों का बिखराव हो रहा था और कलावाद के मजबूत होने का खतरा लगातर बना हुआ था। नामवर सिंह की आलोचना में इन दोनों से मुठभेड़ के स्वर सुनानी पड़ते है।।

देवीशंकर अवस्थी की आलोचना क्षेत्र में जिनसे सीधे 'मुठभेड़' हुई वह नामवर सिंह हैं। दोनों आलोचक नए साहित्य को महत्व देते हैं और कविता तथा कहानी की नवीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट भी करते हैं। देवीशंकर अवस्थी इस समय चल रहे प्रगतिशील आलोचना के अन्तर्विरोधों से परिचित थे और डॉ. रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद की जड़ता की पहचान भी उन्हें पूरी थी। डॉ. शर्मा की आलोचना पर बात करते हुए उन्होंने लिखा कि – "वास्तव में रामविलास जी 'फौजदारी वकालत पद्धति' के आलोचक हैं। वकील जैसे मुकदमें की दरख़ास्त बनाते समय, बहस करते समय अपने मतलब के नुक्ते ढूँढ़ता है वैसे ही रामविलास जी भी। शुक्ल जी के पीछे पड़ गए तो उन्हें रामविलास शर्मा बना कर छोड़ा और यशपाल को अमार्क्सवादी ही सिद्ध किया।"[31] अवस्थी जी द्वारा रामविलास पर लगाया गया यह आरोप उनके प्रगतिशील विचारों की जड़ता पर प्रहार है जिसे परवर्ती हिन्दी आलोचना में नामवर सिंह, डॉ. वीरभारत तलवार, मुद्राराक्षस और वीरेन्द्र यादव ने भी समझा है। नामवर सिंह को देवीशंकर अवस्थी एक गंभीर आलोचक मानते हैं और नयी कविता के समान नई कहानी की आलोचना में उनके ऐतिहासिक अवदान की प्रशंसा भी करते हैं। वास्वत में नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी की आलोचकीय मुलाकात 'नयी कहानी' के क्षेत्र में ही हुई। आज भी नई कहानी की जिस आलोचक तिकड़ी की चर्चा हिन्दी आलोचना में होती है उसमें सुरेन्द्र चौधरी, नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी का नाम लिया जाता है। इन आलोचकों ने नई कहानी को उसके बदलते परिवेश के साथ परिभाषित किया और कहानीकारों की नयी अनुभूति की व्याख्या ही नहीं की, कथा आलोचना की व्यवस्थित प्रणाली का विकास भी किया।

---

30 'आलोचना का समाजशास्त्र, मुद्राराक्षस, पृ.32

31 'आलोचना का द्वन्द्व' देवीशंकर अवस्थी, पृ.12

'नामवर सिंह कविता के आलोचक हैं, कहानी के नहीं।' यह मुद्दा उन दिनों हिन्दी कथा आलोचना में चल पड़ फिर इसकी तह में जाकर कविता के तत्वों और कहानी के तत्वों के अलगाव एवं मिश्रण पर भी बहस शुरु हुई जिसकी परिणति लेखक और रचनाकार की 'अनुभूति की प्रमाणिकता' और 'आलोचक की सजगता' जैसे विषयों तक पहुंच कर हुई।

जब कविता और कहानी के अलग–अलग तत्वों पर बहस चल रही हो तो कहानीकारों का आलोचना के क्षेत्र में उतरना स्वाभाविक ही था। नई कविता के कवियों की तरह नयी कहानी के कहानीकार भी अपनी रचना–प्रक्रिया और 'साहित्यिक ईमानदारी' और 'सामाजिक समझदारी' का परिचय देने लगे। नई कहानी के दौर में प्रत्येक कहानीकार अपनी कहानी–संग्रह के साथ या तो एक लंबी भूमिका लिखता है अथवा कोई स्वतंत्र आलोचना पुस्तक जो उसकी रचना–प्रक्रिया और नवीनता बोध को परिभाषित करती है। उदाहरण के तौर पर मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव तथा मार्कण्डेय की लिखी भूमिकाओं और कहानी आलोचना पुस्तकों के रूप में देखा जा सकता है।

दरअसल नयी कहानी की आलोचना का मुद्दा ही अलग है क्योंकि अभी तक चली आ रही आलोचना की परंपरा में कविता ही केन्द्र में रही जिसके फलस्वरूप कथा–समीक्षा के सूत्रों का वैसा विकास नहीं हो पाया था जैसा कि कविता की समीक्षा का। प्रेमचंद, जैनेन्द्र आदि कहानीकारों ने यद्यपि की कथा के विश्लेषण की कुछेक पद्धतियों की चर्चा की तथापि वह हिन्दी आलोचना में बहस का विषय नहीं बन सकी। इस तरह देखा जाए तो अपने यहाँ हिन्दी कथा आलोचना की कोई वैसी परंपरा नहीं रही जैसे कि यूरोपीय देशों के साहित्य की आलोचना में बन चुकी थी। हिन्दी आलोचना के लिए यह दुखद अध्याय है कि उसने सिर्फ कविता को ही साहित्य माना और काव्य के आधार पर ही प्रतिमानों का निर्माण किया। इसके मूल में हिन्दी के आलोचकों पर संस्कृत काव्यशास्त्र के रसवादी मूल्यों का बना हुआ आग्रह ही था कि लोग रस की ही व्याख्या करते रहें। कभी 'लोकमंगल' के नाम पर, कभी आनंद के नाम पर। इस रसवादी व्याख्या में बुद्धिरस का सर्वथा अभाव रहा जिसक परिणाम यह हुआ कि "प्रेमचन्द जैसी रचनात्मक क्षमता सम्पन्न लेखक

के कृतित्व की ओर आचार्य शुक्ल भी ध्यान नहीं दे सके। प्रसाद या पंत से प्रेमचन्द का कृतित्व न्यून (गुण और परिमरण दोनों में) न होने पर भी शुक्ल जी उनके बारे में कुछ चलते हुए प्रशंसात्मक वाक्य ही कह पाते हैं।"[32]

स्वतंत्र्योतर दशक में राष्ट्रीय –सांस्कृतिक सजगता के फलस्वरूप उपजे बोध के साथ जो नया साहित्य सामने आया उसने न केवल साहित्यशास्त्र और आलोचना का पुरानी पड़ गयी पद्धतियों को नकारा बल्कि ऐकेडमिक तंत्र की जड़ता के प्रति भी उसमें अवज्ञा का भाव था। इस नकार और अवज्ञा के फलस्वरूप समीक्षा के जिन नए मानों की खोज की गयी उसी के साथ कहानी के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया। नयेपन के इस समूचे दौर में "कहानी के संबंध में 'उड़ती चर्चाओं' से आगे बढ़कर उसे समझने की ठोस प्रक्रिया की शुरुआत हुई जनवरी, 1961 की नयी कहानियों में 'हाशिये पर' स्तम्भ से। नामवर सिंह ने 'कहानी–पाठ–प्रक्रिया' को मद्दे–नजर रखते हुए तमाम नई कहानियों को अलग–अलग विश्लेषित किया। पुरानी कहानियों से उनका अन्तर स्पष्ट किया और रचना तंत्र पर नए सिरे से विचार किया। कहानी के पूरे विवाद में इस लेखमाला का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी लेखमाला के अंतर्गत 'कहानी : अच्छी और नई' परिसंवाद में पहली बार जमकर परम्परा आदि के बोझ को त्याग नयी कहानी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्थापित किया जा सका तथा उसकी कमजोरियों का स्वयं से लेखकों–समीक्षकों द्वारा निर्मम उद्‌घाटन भी हुआ।"[33] और इस तरह हिन्दी में कथा–आलोचना की नयी पद्धति तथा औजारों का निर्माण सम्भव हो सका। जिसके विकास में सुरेन्द्र चौधरी और देवीशंकर अवस्थी का योगदान ऐतिहासिक है। डॉ. चौधरी ने कहानी की पाठ–प्रक्रिया को कविता से भिन्न बताते हुए उसकी रचना–प्रक्रिया के अलगाव को ध्यान में रखकर कथा के जिन समीक्षा सूत्रों का विकास किया वे नयी और पुरानी कहानी के भावबोध के अंतर को तो उजागर करते ही हैं कहानी की शिल्प संरचना के बदलते ढाँचे को भी स्पष्ट करतें हैं। देवीशंकर अवस्थी ने 'नई कहानी' के आलोचनात्मक वाद–विवाद में बढ़कर हिस्सा लिया और नयी रचनाशीलता में आ रहे निजी और वाह्य के बीच के द्वन्द्व की प्रक्रिया के सहारे नयी कहानी के वस्तु एवं

---

32 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, देवीशंकर अवस्थी, पृ.12

33 वही, पृ.16

शिल्प की नवीनता का निर्धारण किया। कथा–आलोचना में उनकी यह समझदारी काफी महत्वपूर्ण है, जबकि वे कथा समीक्षा की विकास प्रक्रिया में थे – कि 'सच्चाई की खोज एक श्रेष्ठतर कला शिल्प की भी खोज है, दोनों वस्तुतः एक ही हैं।'

'नई कहानी' के संदर्भ में विवाद का एक मुद्दा ग्राम कथा बनाम शहरी कथा को लेकर था। मोहन रोकश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव जहाँ शहरी मध्यवर्गीय जीवन के कथाकार माने गए, वहीं दूसरी और मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह भैरवप्रसाद गुप्त ग्रामीण आंचलिक कथाकार। नामवर सिंह ने इस दौर की कहानी की सफलता का अर्थ उसकी सार्थकता से जोड़ते हुए कहा कि – "आज की हिन्दी कहानियों में चित्रित संघर्ष चाहे भौतिक हो या चाहे आर्थिक, पारिवारिक हो चाहे राजनैतिक, आज की परिस्थिति का संघर्ष है। सदियों पुरानी समस्याओं को भी आज की कहानियों का किसान या निम्नमध्यवर्गीय कोई शहरी व्यक्ति नये स्तर पर तथा नए रूप में झेल रहा है।"[34] नामवर सिंह जिस नए यथार्थ की बात करते हैं वह ग्रामीण और शहरी दोनों जगहों का यथार्थ है। देवीशंकर अवस्थी ग्राम कथा और शहरी कथा के विभाजन को ठीक नहीं मानते हैं। वे यथार्थ के समूचे रूप की खोज कहानी की रचना–प्रक्रिया में करते हैं और उसी के साथ कहानी के नए शिल्प की बुनावट को भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

नामवर सिंह द्वारा निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को नयी कहानी की पहली कहानी घोषित करने पर 'कविता बनाम कहानी' के प्रतिमान का विवाद तत्कालीन हिन्दी आलोचना में प्रमुख रूप से उभरा। 'परन्दि' कहानी में अकेलेपन का स्वर है लेकिन नामवर सिंह ने उसकी भाषा की प्रतीक शक्ति और उसमें उद्घाटित नए मूल्यों की आहट के आधार पर इसे पहली नयी कहानी घोषित किया। वे यह मानते हैं कि रचना में बिम्ब, प्रतीक, मिथ और अन्योक्ति की जो शैली अपनायी जा रही है उसे समझने के लिए यदि इन उपकरणों की सहायता ली जा रही है तो कठिनायी क्या है? कविता और कहानी के प्रतिमान संबंधी इस विवाद में देवीशंकर अवस्थी की धारणा है कि 'प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविकता का अवमूल्यन करती है। अनुभव की जो प्रत्यक्षता है उसके प्रति एक

---

[34] कहानी नयी कहानी, नामवर सिंह, पृ.48

अवमानना का भाव प्रतीक–चर्चा में निहित रहता है। इस तरह नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी की धाराएँ परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं लेकिन देवीशंकर अवस्थी कला और साहित्य से प्रतीकों के निष्कासन की बात नहीं करते। वे प्रतीकों को कहानी के अर्थ विस्तार के संबंध में महत्वपूर्ण मानते हैं उन्होंन लिखा – "कहानी में प्रतीक रहस्यपूर्ण न होकर, उसके अर्थ विस्तार का ही अतिरिक्त उच्छलन कहा जा सकता है, वह पूरे गद्य विस्तार के संदर्भ में होता है न कि समस्त गद्य विस्तार का तात्पर्य किसी प्रतीक या मिथक में होता है।"[35]

नए साहित्य के कथात्मक रूप को परिभाषित करने की समस्या केवल 'नई कहानी' तक सीमित नहीं है। सन् साठ के बाद हिन्दी साहित्य में नवलेखन का दौर आया। जिसमें आशा–आकांक्षा से अधिक, भयावह यथार्थ के बीच मनुष्य की बनती नीयत का साक्षात्कार दिखायी पड़ता है। कहानी और कविता में इस दौरान कई आन्दोलननुमा हवाएँ चल रही थी, अकविता, अकहानी, समान्तर कहानी आदि इस समय के साहित्य के बदलते यथार्थबोध और नवनिर्मित शिल्प को प्रकट करते हैं। इस समय कथा–आलोचना में यद्यपि कि नामवर सिंह सक्रिय रहे लेकिन कथा की पहचान को सूक्ष्मता से रेखांकत किया – देवीशंकर अवस्थी ने। देवीशंकर अवस्थी अब "कहानी आलोचना के क्षेत्र में पूरी तरह सक्रिय हुए तो वह नई कहानी आन्दोलन के ढलान का काल था। नई कहानी के अंतर्विरोध, रूढ़ियों और एक सत्ता से लोग ऊबने लगे थे। शायद हर पीढ़ी और आंदोलन के अपने आलोचक होते हैं। नामवर सिंह जैसे नई कहानी के प्रवक्ता है, उसी अर्थ में देवीशंकर अवस्थी ने छठे दशक के बाद की कहानी को समझन–समझाने की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया। 'सन् साठ के बाद की हिन्दी कहानी' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने उस कहानी के स्वरूप और प्रकृति को बहुत सूक्ष्म और सटीक रूप में पहचान पाने की क्षमता का परिचय दिया है जो नई कहानी के बाद अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही थी।"[36]

---

35 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, देवीशंकर अवस्थी, पृ.16

36 'आलोचना का विवेक' संपादक, राजेन्द्र कुमार, पृ.120

इस प्रकार चौथे दशक से लेकर छठे और सातवें दशक तक आलोचना का जो परिदृश्य तैयार होता है वह हिन्दी आलोचना में विकसित बौद्धिकता का प्रतीक है। हिन्दी की आलोचना में इस दौरान निर्णय और गुण–दोष विवेचन कम, रचना–प्रक्रिया, साहित्यिकता–असाहित्यिकता, रचनाकार की ईमानदारी, साहित्य और राजनीति के संबंध, साहित्य की स्वायत्तता, और आलोचना की नयी भूमिका के मुद्दों पर ज्यादा बहस होती रही। जाहिर तौर पर इस बहस के बदलते ढाँचे का मूल कारण साहित्य और समाज में आने वाला बदलाव ही रहा। जिसमें नये जीवन का यथार्थ और जटिल होती परस्थितियों की भी अपनी भूमिका रही। आधुनिक जगत में फ्रायड और मार्क्स के विचारों ने जो क्रांति उपस्थित की उससे साहित्य भी अछूता नहीं रहा। फ्रायड का प्रभाव हिन्दी की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पर, मार्क्स का प्रगतिवादी समीक्षा पर और अस्तित्ववाद का 'प्रयोगवाद' और 'नई कविता पर स्पष्टतः देखा जाा सकता है। कहना न होगा कि देवीशंकर अवस्थी का भी समय यही ळै।

नयापन हमेशा साहित्य के विवेचन–विश्लेषण में दिक्कतें पैदा करता है। इस समय साहित्य में जो नई चेतना और नई दृष्टि आयी उसका पहला निर्णायक बिन्दु तो आजादी और विकास का रास्ता था और दूसरा शीतयुद्वीय मुहिम की शुरुआत एवं उसका सांस्कृतिक–वैचारिक हस्तक्षेप रहा। नई कहानी में आने वाला भाव–बोध जहाँ एक ओर आजादी के स्वप्न और यथार्थ की द्वंद्वात्मक अभिव्यक्ति था वहीं 'नई कविता' में उठे विविध साहित्यिक प्रश्न शीतयुद्धीय सांस्कृतिक –वैचारिक हस्तक्षेप के परिणाम रहे। 'परिमल' जैसी संस्थाओं का गठन उसी का भारतीयकरण था जो साहित्य के शाश्वत सौंदर्यपरक मूल्यों की हिमायती और राजनीति को साहित्य से सर्वथा अलग देखने की दृष्टि के साथ हिन्दी आलोचना में आयी। 'प्रगतिशील' आलोचना से वैचारिक मतान्तर के कारण इनका टकराव स्वभाविक था और वही साहित्य के मूल्यों के मत वैभिन्य के रूप में हमें इस दौर की आलोचना में दिखयी पड़ता है।

इन सबसे अलग–थलग हिन्दी की एकेडमिक आलोचना थी जो सर्वथा नवीन चीज़ों से अपने को मुक्त रखना चाहती थी और रस, छंद, अलंकार के आधार पर

साहित्य की श्रेष्ठता की घोषण करती रही। देवीशंकर अवस्थी ने जहाँ एक ओर 'परिमल' और 'प्रगतिशील' गुट से स्वयं को अलग रखा वही दूसरी ओर इस जड़वादी मानसिकता से युक्त एकेडमिक आलोचना से भी दूर का ही रिश्ता बनाया। 'नई कविता' और 'नई कहानी' के संबंध में उठा नवीन भावबोध का विवाद सिर्फ साहित्यिक विवाद हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस विवाद के विन्दु गहरे हैं और ये विवाद उनकी जीवन दृष्टि की भिन्नता तक जाते हैं।

देवीशंकर अवस्थी जिन्हें बाद में 'नई कहानी' के दौर में उभरे कथा समीक्षक के रूप में जाना गया अपनी समकालीन आलोचना में उठ रहे विविध मुद्दों से जुड़े हुए हैं। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ और व्यावहारिक समीक्षाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि युग की साहित्यिक घड़कनों को वे सुन ही यहीं रहे थे बल्कि उन्हें समझ भी रहे थे। हिन्दी आलोचना में यह पॉलिमिक्स' का दौर था। कविता और कहानी पर की गयी टिप्पणियों का अगर अवस्थी जी की आलोचकीय 'पॉलिमिक्स' में आ जाएँगें। उनके द्वारा संपादित 'विवेक के रंग' पुस्तक उनकी युगीन जागरूकता का प्रतीक है जिसमें उन्होंने वैचारिक धाराओं को तोड़कर साहित्य की मूल्यवान समीक्षाओं का संकलन किया है। उनके इस ऐतिहासिक कार्य की पहचान नामवर सिंह ने 'हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष' निबंध में की है। नामवर सिंह ने आजादी के बाद हिन्दी आलोचना पर बात करे हुए लिखा कि – "आलोचना जो शुरु से ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की समर्थ पार्श्व–शक्ति रही है, इन पच्चीस वर्षों में रचना के समानान्तर व्याख्या–विश्लेषण के नए औजारों के निर्माण और मूल्याँकन के उपयुक्त नई अवधारणाओं के विकास में अग्रसर रही है। यद्यपि इस बीच प्राचीन काव्य शास्त्र के पुनरुद्धार के द्वारा नए साहित्यिक मूल्यों को आच्छन्न करने के उद्योग भी कम नहीं हुए, पर उदभ्य सृजनशीलता अपने अनुरूप आलोचना में नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करके रही। पिछले दशक की आलोचना के इस नवोन्मेष का प्रतिनिधि दस्तावेज स्व. देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित 'विवेक के रंग' (1965) है, जिसमें उस दशक के साहित्य की श्रेष्ठ समीक्षाएँ संकलित हैं।"[37]

---

37 'हिन्दी का गद्यपर्व' नामवर सिंह, पृ.79

तृतीय अध्याय

देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का स्वरूप एवं महत्त्व

3.1 सैद्धांतिक आलोचना

3.2 व्यावहारिक आलोचना

देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का स्वरूप एवं महत्त्व

आलोचना की चली आ रही परंपरा में देवीशंकर अवस्थी जिस पद्धति और प्रणाली का प्रस्ताव लेकर आते हैं, वह एक ओर तो कलावादी, आनंदवादी मूल्यों के अतिशय आग्रह से अलग है तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ के नाम पर साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद बना देने वाले प्रचारवादी नारों से भी भिन्न है।

यह तथ्य है कि जीवन और जगत को देखने के कोण से भिन्न साहित्यिक दृष्टिकोण का निर्माण नहीं होता, तब यह स्पष्ट होना चाहिए कि साहित्य को विकासमान गतिशील अवस्था से जोड़कर देखने का प्रयास आलोचक की निरी साहित्यिक सोच का परिणाम नहीं है। देवीशंकर अवस्थी साहित्य के सौंदर्यबोधीय मूल्यों की जब बात करते हैं तो उनकी नजर साहित्य के मूल स्रोत-जीवन पर लगी रहती है। रचनाकार और आलोचक के लिए इस मूल स्रोत की जानकारी आवश्यक है, क्योंकि यही वह 'कच्चा माल' है जहाँ से दोनों अपनी सामग्री का चुनाव करते हैं। अवस्थी जी की यह मान्यता कि- "सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों के कारण साहित्य में चित्रित मानवमूर्ति का रूप भी बदलता रहता है"[1] - जड़ सौंदर्य प्रेमियों से नितान्त भिन्न है। 'जड़ीभूत सौन्दर्यभिरुचि' के विरूद्ध यह विकासवादी दृष्टि है जिसमें परिवर्तन को आधार बनाकर साहित्य और समाज के संबंधों के निर्धारण का प्रयास किया गया है।

3.1 सैद्धांतिक आलोचना

हिन्दी आलोचना के विकास का परिदृश्य इस का साक्षी है कि साहित्य के विवेचन-विश्लेषण और मूलयांकन की विविध प्रणालियाँ रही हैं। कालक्रमानुसार विकास में ही नहीं, एक ही समय में भी। वह इस बात का भी प्रमाण है कि जब-जब साहित्य को शुद्धतावादी जरिए से देखा गया और आलोचना को 'सभ्यता समीक्षा' के बजाय 'साहित्य के गुण-दोष विवेचन' तक सीमित किया गया तब-तब साहित्य का विकास

---

1 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.49

बाधित हुआ। वैचारिक दृढ़ता और तार्किक समृद्धि के अभाव में आलोचना का क्षेत्र भी संकुचित हुआ। इसका दूसरा छोर भी है - जहाँ रचना की किसी स्वतंत्र सत्ता को मानने से इन्कार किया गया और उसे निरा समाजशास्त्र के रूप में देखा गया। दुखदायी पक्ष यह रहा कि आलोचना में विविध दार्शनिक प्रणालियों का आग्रह हुआ, जिनको आधार बनाकर रचना पर फतवेबाजी की घटिया प्रणाली का विकास हुआ। मनोविश्लेषण और समाजशास्त्र की इन दो अतिवादी धाराओं के बीच का अन्तर दरअसल अलग जीवन-दृष्टियों तथा भिन्न इतिहास-बोध का अंतर है। जिससे साहित्य को देखने के अपने नजरिए का निर्माण होता है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना सैद्धांतिकी पर विचार करते समय यह प्रश्न सबसे पहले उठता है कि आखिर साहित्य को देखने का उनका अपना नजरिया क्या है? और उस नजरिए के निर्माण के स्रोत क्या हैं? उनकी दृष्टि में समीक्षा की क्या अहमियत है? और उस अहमियत के मन्तव्य क्या हैं? साहित्य के प्रति निर्मित नजरिए से ही समीक्षा के सूत्रों का वितान तैयार होता है, अतः समीक्षा-सूत्रों का पता इन्हीं प्रश्नों से टकराकर लगाया जा सकता है।

देवीशंकर अवस्थी ने साहित्य को आनंद भी माना है और ज्ञान भी। वे रचना को एक कलाकृति मानते हैं और कलाकृति के रूप में ही उसका विवेचन करते हैं। समाज की विकासवादी धारणा उनकी साहित्य धारणा का आधार है। देवीशंकर अवस्थी साहित्य को किसी विचारधारा से मापने के पक्ष में नहीं हैं। अतिवाद के दो आग्रही खेमों (समाजशास्त्र और मनोविश्लेषणवाद) से अलग वे साहित्य को उसकी 'समग्रता' और 'संकुलता' में देखते हैं। उनका मानना है कि "साहित्य न तो दर्शनशास्त्र है, न समाजशास्त्र, उसके अध्ययन की अपनी प्रकृति और प्रणाली है, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक सत्य रचना के भीतर तभी मूल्यवान होते हैं, जब वे उसकी समग्रता, संकुलता एवं कलात्मकता की रक्षा करते हैं।"[2] रचना को दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान से अलग कर देने की प्रणाली उतनी ही अवैज्ञानिक और थोथी समझ का नतीजा होती है जितना कि रचना पर इन दोनों को थोपने की पद्धति। देवीशंकर अवस्थी इस

---

2 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.16

अवैज्ञानिक प्रणाली से भिन्न कलात्मक सौंदर्य की रक्षा तक साहित्य में मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के समावेश से इन्कार नहीं करते। वे साहित्य के सौंदर्यात्मक मूल्यों के प्रति सजग रहते हैं। उनकी सजगता का ही प्रमाण है कि वे रचना को खानों में बाँटकर देखने के बजाय उसे समग्रता में समझने का प्रस्ताव करते हैं। सौंदर्य की समग्रता देवीशंकर अवस्थी की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु है, जिसके लिए वे समीक्षा में 'संतुलन' शब्द का प्रयोग करते हैं। संतुलन के सौंदर्य का अर्थ रचना को समग्रता में देखना है। समग्र मूल्यांकन के कम में वे सौंदर्य की मीमांसा -'रचना केवल रचना' के लिए अथवा 'कला केवल कला के लिए' से भिन्न रूप में करते हैं तथा साहित्य को सांस्कृतिक गतिविधि का अंग मानकर देखते हैं। साहित्य मानवीय गतिविधि का अंग होकर देवीशंकर अवस्थी के लिए मात्र 'सौंदर्य की सृष्टि' और 'भावना का विषय' ही नहीं रह जाता। वे साहित्य रचना को एक सचेतन प्रक्रिया मानते हैं और इसीलिए रचना के अध्ययन में भावावेश से ज्यादा बौद्धिकता को महत्व देते हैं। रचना में रचनाकार की 'कलादृष्टि' की खोज करते है। किसी बाहरी पैमाने से नहीं, रचना के आन्तरिक गठन के अध्ययन से। उनकी इस कलादृष्टि की खोज में उन मूल्यों की पहचान का प्रयास किया गया है जो रचना को समाजशास्त्र से अलग 'रचनात्मक कृति' बनाते हैं। क्योंकि साहित्य और समाज का संबंध सीधा नहीं जटिल होता है, अतः उस जटिल संबंध के माध्यम से 'कलादृष्टि' की खोज आलोचना की अनिवार्य शर्त है। रचना और समाज के इसी द्वन्द्वात्मक संबंध की चर्चा करते हुए नामवर सिंह ने 'इतिहास' और 'आलोचना' में 'साहित्य के अपने नियम' का उल्लेख किया है।"[3]

आलोचक का कार्य मूल्यांकन और निर्णय देना तो बाद में है, उसकी प्राथमिक शर्त है कि वह कृति के साथ निकटता स्थापित करे। इसी प्राथमिक शर्त के लिए देवीशंकर अवस्थी कृति को प्रथम अर्थ में पढ़ने की बात करते हैं। रचना-प्रक्रिया की

---

3 "ऐतिहासिक भौतिकवाद की पहली चेतावनी यह है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला आदि की भाँति साहित्य के भी अपने नियम है। इसलिए उन नियमों की जानकारी पहले होनी चाहिए। यदि हम साहित्य की रूप–तत्व संबंधी विशेषताएं' नहीं जानते, तो भौतिकवाद के सामान्य सिद्धान्त इस दिशा में कोई सहायता नहीं कर सकते।"–'इतिहास और आलोचना', नामवर सिंह, पृ. 14

जटिलता और रचना की संकुलता की जानकारी के लिए यह जरूरी है कि पाठक और आलोचक रचना के सभी स्तरों को समझें। उनका विचार है कि समग्रता की यह समझ संतुलन से ही आ सकती है। संतुलन से आशय रचना के सभी स्तरों के साथ गहरी संपृक्ति से है, जिसे वे आलोचना के लिए अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने लिखा- "आवश्यकता आज इस बात की है कि समीक्षा संतुलित हो, यानि की रचना के साथ उसकी अधिक गहरी संपृक्ति हो, रचना के सभी स्तरों के साथ। प्रत्येक रचना स्वनिर्भर एकतान एवं अत्याधिक जटिल स्तरों वाली होती है ओर 'युग तथा रचयिता' से उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी होता है, उसका इसी रूप में 'अध्ययन' प्रारंभ होना चाहिए।"[4]

रचना के स्वतंत्र अस्तित्व की बात अलग बहस का मुददा हो सकती है। लेकिन रचना से गहरी संपृष्ति की मांग-गहन आलोचना प्रकिया से सम्बद्ध है। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि परिवेश की जटिलता की अनुभूति सिर्फ रचनाकार को ही नहीं, आलोचक को भी होनी चाहिए तभी वह रचना के विविध स्तरों की जटिलता को उद्घाटित करने में सफल हो सकेगा। अवस्थी जी का यह प्रस्ताव 'रचना केन्द्रित आलोचना' का है। इसमें विचारधारा और रचनाकार के विश्वासों की खोज रचना के माध्यम से करने का आग्रह है। मैनेजर पाण्डेय ने 'रचना-केन्द्रित आलोचना पर विचार करते हुए लिखा कि - "रचना-केन्द्रित आलोचना पर जोर देने का उददेश्य लेखक के रचनात्मक अभिप्राय और विचारधरा के महत्व को कम करना नहीं है। आग्रह केवल यह है कि पहचान का आधार रचना को बनाया जाए। और रचनाकार की विचारधारा से उसके यथार्थवाद के संबंध की खोज की जाए।"[5] इस तरह की आलोचना में यह जरूरी है कि कवि अथवा लेखक जिस परिवेश का आत्मसातीकरण सृजन प्रकिया के दौरान करते हैं उनसे आलोचक परिचित हो। रचना-प्रकिया की लय और सोच को समझने के लिए आलोचक का आत्म संघर्ष कुछ कम नहीं होता। अनुभूतियों का साँचा (पैटर्न) जीवन की गहरी अनुभूति से निर्मित होता है अतः इस रूप में आलोचक का

---

4 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.16

5 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' मैनेजर पाण्डेय, पृ.240

संघर्ष दुहरा हो जाता है - एक तो रचना से संपृक्ति का, दूसरे रचना के जीवन से जुड़ने का। देवीशंकर अवस्थी रचनाकार और आलोचक दोनों के संघर्ष से परिचित है। दोनों के संघर्ष में अंतर सिर्फ यही है कि रचनाकार "लिखता भीरत से है और उसमें संशोधन, परिष्कार बाहर से करता है। समीक्षक बाहर की ओर से प्रभाव ग्रहण करता है और भीतर की ओर से महत्व का आंकलन करता है। पर यह होता एक ही समय और साथ-साथ है।"[6]

साहित्य सांस्कृतिक विकास के अनुभवों का संकुल कलारूप है। साहित्यकार समय की सच्चाई और समाज की वास्तविकता को बड़ी कठिनाई से रूपायित करता है। कला के निर्माण की इस 'जटिल प्रक्रिया' को मुक्तिबोध ने 'कला के तीन क्षण' के रूप में देखा है। उनके अनुसार - "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव -क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैन्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा क्षण है इस फैण्टेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[7] मुक्तिबोध को देवीशंकर अवस्थी बड़ा कवि मानते हैं और रचना-प्रक्रिया के समान आलोचना प्रक्रिया में जीवन यथार्थ के तीव्रबोध को वे महत्त्व देते हैं। रचनाकार के बरक्स आलोचक का कार्य दोयम दर्जे का नहीं है। ऐसा मानते हुए अवस्थी जी ने लिखा -

> *"जिस प्रकार कलाकार लेखक की कृति का मूल-स्रोत साहित्य की सापेक्षता और संदर्भ में देखा गया जीवन है, वैसा ही समीक्षक का कच्चा-माल जीवन के संदर्भ में स्थित साहित्य है तथा इस परीक्षण में तार्किक विश्लेषण और बौद्धिक व्याख्या के अन्तर्गत मूल्यों का परीक्षण उसी प्रकार होता है जैसा कि लेखक लिखते समय किन्हीं चरित्रों या भावनाओं को तौलता रहता है।"*[8]

---

6 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.16

7 'एक साहित्यिक की डायरी', मुक्तिबोध, पृ.20

8 'आलोचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.43

सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में आलोचक का दायित्व रचनाकार से कम नहीं है। देवीशंकर अवस्थी इसीलिए आलोचना को सर्जनात्मक विधा बताते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य, आलोचना, शोध और अन्य शैक्षणिक गतिविधियाँ सभी साथ-साथ विकसित होती हैं। साहित्य की सर्वथा स्वतंत्र और विच्छिन्न न मानने की यह पद्धति द्वन्द्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता है जो "किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार, को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य प्रसंग में देखती है।"[9] अवस्थी जी के निबंधों में जहाँ 'समग्रता', संतुलन और 'समन्वय' जैसे शब्द मिलते हैं वहाँ उनके साथ द्वन्द्वात्मक संबंधों का जिक्र जरूर हुआ है।

देवीशंकर अवस्थी व्यक्तिवादी अंर्तमुखियों की तरह रचना के विश्लेषण में वस्तुवादी दृष्टिकोण को नकारते नहीं। वे विकास की ऐतिहासिक दृष्टि के साथ रचना को एक रूपायित वस्तु मानते हैं और इस तरह समीक्षक के दायित्व को बढ़ाते हैं। रचना के सौंदर्यबोधीय मूल्यों को जीवन-बोध से जोड़कर देखने की उनकी दृष्टि, एक ओर जहाँ रचनात्मक कृति की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखती है। वहीं दूसरी ओर उसके सामाजिक संदर्भ की उपेक्षा भी नहीं करती।

साहित्य का संदर्भ तो जीवन ही है अतः आलोचना का प्रमुख कार्य है कि रचना को संदर्भ प्रदान करे। अवस्थी जी रचना से आलोचक की गहरी संपृक्ति की बात करते हैं उसका माध्यम भाषा है। जो कि मुक्तिबोध के शब्दों में 'सामाजिक निधि' है।"[10] अतः कृति की स्वतंत्रता और उसकी सामाजिक सापेक्षता दोनों का संबंध सरल और सीधा नहीं है। इस संबंध पर टिपण्णी करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ने लिखा - "साहित्य नितांत वैयक्तिक सृजन होकर भी सांस्कृतिक संदर्भ के बिना असंभव है। सृजन के क्षणों में अकेला साहित्यकार एक मायने में कभी अकेला नहीं है उसका रचना-माध्यम

---

9 'इतिहास और आलोचना', नामवर सिंह, पृ.140

10 देवीशंकर अवस्थी रचना से गहरी संपृक्ति की बात करते हैं। भाषा इस संपृक्ति का माध्यम होती है। भाषा को मुक्तिबोध ने जीवित परंपरा के रूप में देखा है। मुक्तिबोध ने लिखा – "भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ परंपरा है। ये अर्थ जीवनानुभवों से जुडे हुए हैं।" – 'एक साहित्यिक की डायरी', मुक्तिबोध, पृ.27

शब्द प्रकृत्या ही सभी माध्यमों से अधिक सामाजिक है।"[11] सामाजिकता और वैयक्तिकता का यह द्वंद्व सृजन के क्षणों में जिस तरह रचनाकार की अनुभूति क्षमता का परीक्षण करता है वैसे ही आलोचक से भी पूरी तैयारी की माँग।

सर्जनात्मक आलोचना की अवधारणा के द्वारा देवीशंकर अवस्थी आलोचक को उसके अभिजात्यवाद से अलग विशिष्ट पाठक के रूप में देखते हैं। जहाँ से आलोचना साहित्य के मूल्यांकन में फतबेबाजी जैसा 'शास्त्रीय व्यापार' भर नहीं रह जाती, वह व्यापक रूप में 'सभ्यता समीक्षा' का अंग बनती है।

यह कहा जा चुका है कि रचना की स्वतंत्रता का अर्थ उसकी सामाजिक सापेक्षता से रहित होना नहीं है। इससे उसकी कलात्मक सीमाओं की व्यापकता का पता चलता है। जिसके भीतर सामाजिक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ समाकर आती हैं, जिसे खोलना ही आलोचक के बौद्धिक व्यायाम की शर्त बन जाती है। देवीशंकर अवस्थी बार-बार इस बात को कहते हैं कि ऐसा विचार कलावादी नहीं है। 'शुद्ध' काव्यवादी कहे जाने का डर उन्हें बराबर परेशान करता है। इसलिए जब वे रचना में वस्तु के रुपायित होने की जटिलता और संकुलता की ओर इशारा करते हैं तो यह कहने में चूक नहीं जाते कि - "जब हम रचना पर केन्द्रित होने के लिए कहते हैं तो 'शुद्ध' काव्यवादियों की बात नहीं दुहरा रहे हैं। हम यह कहना चाहते हैं कि किसी कलाकृति में विचार या उद्देश्य का आ जाना कोई खतरा नहीं उत्पन्न करता - बशर्ते कि वह रचना में उसका उपजीव्य 'उपादान' बनकर आवे, उसी प्रकार से जैसे घटनाएँ, पात्र या वातावरण आते हैं।"[12] कहना न होगा कि अवस्थी जी का समूचा प्रयास साहित्य को विचारों से मुक्त कर देना नहीं, साहित्य- को प्रचार का माध्यम और 'प्रोपैगैण्डा' से बचाना है। इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा- "विशुद्धता पर

---

11 'तीसरा रुख', पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ.21

12 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.13

अत्याधिक बल देने की आवश्यकता नहीं - हाँ प्रत्यक्ष प्रचार या सूचनावादी अभिप्रायों से बचने की आवश्यकता है।"[13]

आलोचना अपने प्राथमिक रूप में पाठक को सहायता पहुँचाने का कार्य करती है। इसी रूप में आलोचक कृतियों का विवेचन-विश्लेषण करता है। देवीशंकर अवस्थी आलोचना को पाठक और लेखक के बीच एक 'संवेदन सेतु' के रूप में देखते हैं। वे मानते हैं कि आलोचना पाठक को कृति से परिचित कराए। रचना की जटिल संयोजना को खोले और उसके विविध स्तरों से पाठक को अवगत कराए। उनकी दृष्टि में - "प्रत्येक कलाकृति की संयोजना अत्यंत जटिल होती है एवं उसके विभिन्न स्तर होते हैं। सामान्य पाठक इस जटिलता एवं स्तर क्रम की एकाध स्थितियों का ही भावन कर पाता है, पर समीक्षा के ज्ञान से संपन्न होकर या समीक्षक द्वारा कृति का विश्लेशण पढ़कर उसकी संयोजित जटिलता को वह अधिक सहज भाव से समझ पाता है।"[14] रचना में विलयित रचनाकार के अनुभव का उद्‌घाटन ही आलोचना की चरम सार्थकता है।

जिसे साहित्य में इतिहास-दृष्टि कहा जाता है वह परंपरा के सही ज्ञान तथा समकालीनता के बोध की उपज होती है। आलोचना में परंपरा और इतिहास के साथ समकालीनता का बोध भी जरूरी है। देवीशंकर अवस्थी की साहित्यिक धारणाओं के विकास में उनके समकालीनता बोध का भी योग है।

परंपरा के अध्ययन के क्रम में देवीशंकर अवस्थी 'भक्ति के संदर्भ' की तलाश करते हैं तो समकालीन रचना और समीक्षा के स्वरूप को 'विवेक के रंग' की तरह देखते हैं। परंपरा और समकालीनता के द्वन्द्वात्मक ग्रहण का ही परिणाम रहा कि उनकी आलोचना में ध्यान साहित्य की साहित्यिकता पर तो है लेकिन सामाजिक संदर्भों की भी उपेक्षा नहीं है। वे मानते हैं कि सामाजिक संदर्भ ही रचना के मूल्यों एवं प्रतिमानों का निर्माण करते हैं। अतः जरूरी है कि - "लेखक की भाँति आलोचक को

---

13 वही

14 'आलोचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.12

भी जिस समाज में वह रहता है, उसके मूल्य-स्रोतों और साँचों तथा मूल्यों की सापेक्ष स्थिति इन सबकी गंभीर चेतना हो।"[15] कृति का रचना-संसार और आलोचक का आलोचना संसार दोनों के अनुभव, विश्वास, चेतना, के लक्षण समान हों यह जरूरी नहीं, लेकिन रचना के संसार से जुड़कर आलोचना का जो संसार निर्मित हो उसमें स्थितियों-परिस्थितियों के साथ सौंदर्य के मूल्यों की परख हो यह जरूरी है।

सार्थक आलोचना अपने निष्कर्षों के सही-गलत से तय नहीं होती। उसकी सार्थकता विश्लेषण की पद्धति से तय होती है। मुक्तिबोध ने आलोचना की सार्थकता को रेखांकित करते हुए यह संकेत दिया है कि वही समीक्षा महत्त्वपूर्ण है जो "संवेदनात्मक जीवन' के सत्य को उद्‌घाटित करते हुए लेखक को अपने वस्तुसत्य से अधिक परिचित कराए।"[16] वस्तुसत्य की यह पहचान-प्रक्रिया बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि आलोचक, रचनाकार' के 'कच्चे माल' से जुड़ने में कितना सफल हुआ है।

देवीशंकर अवस्थी यह आवश्यक मानते हैं कि रचना की सृजनशीलता को उसके समय संदर्भों के साथ देखा जाए। उनकी व्यावहारिक आलोचना में इसके पर्याप्त उदाहरण मौजूद है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा उन्होंने संदर्भ की तलाश के साथ की है। 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा करते हुए वे 1930 के समय को पूरे राजनैतिक-सांस्कृतिक वातावरण का स्मरण करना नहीं भूलते। और फिर उपन्यास की अन्तर्वस्तु तथा रूपतत्व की पहचान करते हैं। आलोचना का एक प्रमुख कार्य कृति के संदर्भ की पहचान करना है। देवीशंकर अवस्थी आलोचना के इस प्रकार्य को ध्यान में रखते हैं। वे मानते हैं कि आज की बदली हुई परिस्थितियों में यदि "वर्तमान समीक्षक इस प्रश्न से प्रारंभ करे कि यह किताब (अथवा कोई) क्यों पढ़ी जाए? तो उसे अधिक मौलिक और गहरे प्रश्नों की ओर आने में सहायता मिलेगी।"[17]

---

15 वही, पृ43

16 'समीक्षा की समस्याएँ', मुक्तिबोध, पृ.36

17 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.9

देवीशंकर अवस्थी जैसे समीक्षकों पर एक आरोप यह लगाया जाता रहा है कि वे 'रचना-केन्द्रित आलोचना' में सिर्फ साहित्यिक मूल्यों की खोज करते हैं। रचना के प्रयोजन और उसकी सार्थकता का निर्धारण सामाजिक सत्य के आधार पर कम ही करते हैं। उपर्युक्त उद्धरण इस मान्यता को खारिज करता है। जो आलोचना इस प्रश्नवाचक वाक्य से शुरु होगी कि किसी पुस्तक की क्यों पढ़ा जाए? वह रचना के प्रयोजन और उसकी सार्थक पहचान से कितनी निरपेक्ष रह सकेगी, यह स्वतः स्पष्ट है। रही बात सिर्फ सौंदर्य के मूल्यों से कृति की परीक्षा की, उसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

देवीशंकर के लिए साहित्य सिर्फ कला ही नहीं था। वह एक सामाजिक प्रकार्य भी था। वह साहित्य की इस धारणा में यकीन नहीं रखते थे कि साहित्य का कोई प्रयोजन नहीं हो या साहित्य का प्रयोजन सिर्फ और सिर्फ सौंदर्य की सृष्टि हो। 'आधुनिक युग में समीक्षा' नामक निबंध में उन्होंने मूल्यों की नवीनता और उनके उचित-अनुचित स्वरूप पर विचार किया है। आलोचना की धारणाओं में 'एकरूपता' लाने के लिए रचना के 'साहित्यिक-प्रयोजन' को ध्यान में रखना आवश्यक समझते हैं। साहित्य की शक्ति की पहचानते हुए, इसी निबंध में उन्होंने लिखा कि

> *"आलोचना में अगर इस बात पर विचार किया जाए कि उसमें कैसा मनोरंजन है, आनंद कैसा है या कृति में किस प्रकार के पलायन को तृप्ति मिलती है, यह बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस प्रकार के अध्ययन के परिणामस्वरूप एकदम नए उत्तेजक साहित्यिक साँचों एवं धारणाओं के बदलाव एवं पुनर्संगठन सामने आ सकते हैं। अथवा पुरानी ही धारणाओं या पूर्वग्रहों का उत्तेजक समर्थन भी हो सकता है। यहीं हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सरस साहित्य जितना भ्रष्ट कर सकता है समाज को, उतना विज्ञान नहीं।"*[18]

---

18 वही,

साहित्य की वह सरसता क्या है? जिससे समाज के भ्रष्ट होने का खतरा है, कहना न होगा कि देवीशंकर अवस्थी के लिए ऐसा साहित्य वह है जो सामाजिक यथार्थ से विहीन सिर्फ हवाई कल्पना के सहारे साहित्य होने का आडंबर खड़ा करता है। आलोचना को वे साहित्य को दिशा निर्धारण करने वाला साधन मानते हैं। रचना की सार्थकता और निरर्थकता इस बात से तय होती है कि आलोचना कितनी सार्थक और निरर्थक रही - और उसका विस्तार क्षेत्र कितना रहा। मुक्तिबोध, त्रिलोचन और नागार्जुन जैसे कवि इसका उदाहरण है जो आलोचना की फतवेबाजी के लम्बे समय तक शिकार बनते रहे। नई कहानी के दौर के महत्त्वपूर्ण कहानीकार-आलोचक रांगेय राघव सिर्फ अपने समय में ही नहीं आज तक आलोचना के 'जनतंत्र' में शामिल न हो सके। यह आलोचना की दिशाहीन स्थिति का ही सूचक है। देवीशंकर अवस्थी इसीलिए आलोचना को सर्जनात्मक बनाने पर जोर देते हैं, जिससे उसमें सही और गलत की पहचान आलोचना-प्रक्रिया के संघर्ष से गुजर कर हो सके। वे मुक्तिबोध की इस बात से जाने-अनजाने रूप में सहमत हैं कि "लेखक जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों, स्थितियों आदि का अंकन करने का प्रयास करता है। समीक्षक को इन जीवन सत्यों से अधिक परिचित होने की आवश्यकता है तभी वह लेखक की सहायता कर सकता है।"[19]

साहित्य के अध्ययन में रस और आनंद दोनों की सही व्याख्या किसी 'शाश्वत' सत्य के रुप में नहीं हो सकती। उसमें विविध कालों में परिवर्तन अवश्यंभावी होते हैं। साहित्य के अध्ययन में इसका ज्ञान होना जरूरी है। साहित्य के साधारण पाठको, आलोचकों के लिए देवीशंकर अवस्थी की यह मान्यता विवाद का विषय हो सकती है कि "समीक्षा रस बोध की बौद्धिक व्याख्या और मूल्यांकन है।"[20] लेकिन जब अवस्थी जी 'रस बोध' को 'जीवनबोध' से जोड़कर काव्य के मूल्यांकन की आनंदवादी धारा से उसे अलग करते हैं तो 'विशिष्ट ज्ञान' और 'विशिष्ट प्रकार का आनंद' के संबंध काल और समाज से सापेक्षिक गत्यात्मक रूप में स्पष्ट हो जाते हैं। उन्होंने लिखा - "आनंद का

---

19 'नई कविता का आत्मसंघर्ष', मुक्तिबोध, पृ.

20 'आलोचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.10

प्रश्न अत्यधिक सापेक्षिक है और उसके आधार पर एक (कॉमन) एवं सर्वमान्य साहित्यिक मूल्य की प्रतिष्ठा करना कठिन होगा। अधिक आनंददायक को अधिक श्रेष्ठ माना जाए, यह कसौटी उपयुक्त प्रतीत नहीं होती।"[21] प्राचीन काव्यशास्त्र में मनोरंजन का स्थान बहुत ऊँचा था। आज के नए-दायित्व के साथ क्या साहित्य में वैसा ही मानक बनाया जा सकता है। देवीशंकर जी इससे स्पष्टता इन्कार करते हैं। आनंद की सापेक्षिकता का उदाहरण देते हुए वे सवाल खड़ा करते हैं कि "क्या 'बूंद और समुद्र' का तथा 'कादम्बरी' से मिलने वाला आनंद एक ही प्रकार का है?"[22]

साहित्य में आलोचना का यह एक महत्वपूर्ण दायित्व है कि वह रचनाओं की साहित्यिकता और असाहित्यिकता की परख करे। अखबार की खबरों में क्या वही भाव जग सकते हैं, जो उसी खबर पर लिखी गई कविता अथवा लिखे गए उपन्यास से? अन्तर यह है कि साहित्य संवेदना-जन्य चित्रण में सफल होता है, जबकि अखबार की खबर एक सूचना मात्रा रहेगी। साहित्यिकता और असाहित्यिकता तथा नैतिक और सौंदर्यपरक मूल्यों की कसौटी भी सामाजिक विकास की प्रक्रिया में अलग-अलग रूप धारण करती है। विचारधारा का भी इससे गहरा संबंध है। विचारधारा और जीवन दृष्टि की भिन्नता जिस प्रकार एक ही समय में परस्पर भिन्न मूल्यों के निर्माण के लिए उत्तरदायी होती है उसी प्रकार सौंदर्य की कसौटी के लिए भी। देवीशंकर अवस्थी ने इस बात की पहचान की है कि बदलती स्थितियों में द्वन्द्व के संबंध बदलते रहते हैं। 'आधुनिक युग में समीक्षा' निबंध में उन्होंने लिखा कि "आज का द्वन्द्व संभवतः नैतिक एवं सौंदर्यपरक के बीच न होकर साहित्यिकता और असाहित्यिकता का है।"[23]

'साहित्यिकता' और 'असाहित्यिकता' का प्रश्न समकालीन हिन्दी आलोचना का एक प्रमुख सवाल था, जिसे देवीशंकर अवस्थी रचना को उसकी समग्रता में देखकर तय करते हैं। समग्रता का यह आग्रह अगर देखें तो लूसिए गोल्डमान की उस धारणा

---

21 'रचना और आलोचना', देवी शंकर अवस्थी, पृ.6

22 वही,

23 वही, पृ.7

के करीब है जिसमें वे कृति को अन्तर्वस्तु वादियों से भिन्न, अर्थ की संरचनाओं के रूप में देखते हैं।[24]

समकालीन हिन्दी आलोचना में देवीशंकर अवस्थी 'नयी समीक्षा' को महत्त्व प्रदान करने वाले आलोचक हैं। जिन साहित्यिक प्रश्नों से जूझने का प्रयत्न उनकी आलोचना पद्धति में दिखायी पड़ता है। उनमें 'समकालीनता', 'नया जीवन यथार्थ', 'साहित्य में ईमानदारी', 'आधुनिकता' और 'इतिहास बोध' जैसे प्रश्न प्रमुख हैं। एक समर्थ पाठक और जाग्रत आलोचनात्मक विवेक के साथ वे इन प्रश्नों पर बुनियादी रूप से विचार करते हैं। रचना के लिए सार्थकता प्रदान करने और आलोचना के लिए परिभाषित होने के द्वन्द्व से भरा 'समकालीनता' शब्द तत्कालीन रचना और आलोचना के लिए चुनौती था।

देवीशंकर अवस्थी ने 'समकालीनता' या समसामयिकता को 'एक कटा हुआ टुकड़ा' नहीं माना और उसकी फ़ैशन-परस्ती से स्वयं को अलग किया। वे साहित्य और आलोचना में 'समकालीनता' के बोध को उस रूप में महत्त्व प्रदान करते हैं जब वह साहित्यकार और आलोचक के इतिहासबोध का हिस्सा बनकर उपस्थित हो। 'समकालीनता' की फैशन-परस्ती के बरक्स वे 'अनुभव की प्रमाणिकता' को आधार बनाते हैं और इसी के सहारे वे 'समकालीनता' को परंपरा के साथ जोड़कर देखते हैं। यह एक तथ्य है कि सही इतिहास-दृष्टि के साथ ही समकालीनता का महत्त्व स्थापित होता है, अन्यथा वह तात्कालिकता से बढ़कर कुछ भी नहीं होती। देवीशंकर अवस्थी के लिए 'समकालीनता' ऐसी ही निरंतर प्रवाहमान ऐतिहासिक स्थिति है-

---

[24] लूसिये गोल्डमान की विश्लेषण पद्धति पर बात करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने दिखाया कि गोल्डमान की पद्धति समग्रता की धारणा से अनुशासित होती है। देवीशंकर अवस्थी द्वारा रचना की आन्तरिक संगति के अध्ययन में 'समग्रता' की चर्चा को गोल्डमान की 'समग्रता' की समझ से जोड़कर देखा जा सकता है। गोल्डमान ने बोध की प्रकिया के संबंध में लिखा कि – *"बोध की प्रकिया का संबंध कृति की आंतरिक संगति से है। उसमें कृति के केवल पाठ के भीतर की सर्वव्यापी सार्थक संरचनाओं की पहचान होती है। व्याख्या के अन्तर्गत कृति की विश्व–दृष्टि की खोज और इतिहास–प्रकिया से उसके संबंध का विवेचन होता है।"* –'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', मैनेजर पाण्डेय, पृ. 157

"समकालीनता एक कटा हुआ टुकड़ा नहीं है वह भी परंपरा यानी इतिहास-बोध का एक अंग होता है और जब हम अनुभव की प्रमाणिकता की बात उठाते हुए समकालीनता को उसकी एक कसौटी मानते हैं, तब यह निहित होता है कि परम्परा की प्रत्यक्ष या परोक्ष अवच्छिन्नता को भी कहीं स्वीकार करते हैं।"[25]

रचना और आलोचना में जिस यथार्थ की पकड़ और पहचान की चर्चा होती है, समकालीनता और परम्परा के द्वन्द्वात्मक स्थितियों के बोध से ही उसके प्रति सही दृष्टि अपनायी जा सकती है। परंपरा, निरंतरता और विकास की द्वंद्वात्मक अवधारणा "नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व"[26] नहीं निर्धारित करती है, बल्कि सामयिक स्थितियों का विवेचन अतीत और भविष्य दोनों से जोड़कर करती है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना पद्धति में समकालीनता का अर्थ इसी रूप में है। विजय देव नारयण साही की तरह वे इस तरह का कोई आग्रह नहीं रखते कि कलाकार नितांत समसामयिक होकर ही उपलब्धि की कसौटी पर खरा उतर सकता है। देवीशंकर अवस्थी के लिए वह (समकालीनता) मात्र समय का एक हिस्सा भर नहीं है - एक जीवन-दृष्टि भी है। जो जीवन की प्रक्रिया से जुड़ी हाती है। समकालीनता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि - "समकालीनता से हमारा तात्पर्य समय की वर्ष, दिवस, मास जैसी इकाईयों से न होकर, उस रूख से है जो तमाम समसामयिक जीवन की प्रक्रियाओं के प्रति हमें उन्मुख रखता है, उससे प्रतिबद्ध करता है और जिसके कारण हम उन तमाम असंगतियों या दबावों का अनुभव करते हैं जो इस जीवन-प्रक्रिया से उद्‌भुत होते हैं।"[27]

रचना यदि जीवन यथार्थ की जटिल स्थितियों को अपने कलात्मक ढाँचे में बाँधकर पाठक के सामने उपस्थित होती है तो आलोचना के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य पाठक के बोध तक उसके जटिल अर्थ स्तरों को पहुँचाए। आलोचना में इसके लिए सही इतिहास-दृष्टि का होना जरूरी है। क्योंकि जीवन-यथार्थ का विश्लेषण

---

25 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.35

26 'छठवां दशक', विजयदेव नारायण साही, पृ. 58

27 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.35

इतिहास-दृष्टि सम्पन्न आलोचना ही कर सकती है। फिर यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि इतिहास-दृष्टि का सही स्वरूप परंपरा के समुचित ज्ञान और समकालीनता बोध से बनता है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना के संबंध में यह धारणा सही है कि-

> *"समकालीनता बोध से रहित आलोचना को आलोचना नहीं कहा जा सकता - शोभा, पाण्डित्य या कुछ और भले ही कह लिया जाए। आलोचना का पहला दायित्व नवलेखन के प्रति है। आलोचक वर्ग का उदय जिस सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग है उसमें उसे समसामयिक साहित्य की दुरूहता एवं मूल्य चिंता दोनों से ही उलझना होगा।"*[28]

देवीशंकर अवस्थी ने शिष्टाचारवश ऐसा नहीं लिखा कि यह कार्य वे स्वयं कर रहे थे। 'विवेक के रंग' तथा 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' पुस्तकें उनकी नवलेखन के प्रति सचेत आलोचकीय प्रतिभा का उदाहरण हैं।

'विवेक के रंग' में विवेक के जिन विविध रंगों को समेटा गया है उनमें 'एक प्रमाणिक अनुभूति' और 'वृहत्तर माध्यम की खोज' भर ही नहीं है, 'यथार्थ की पहचान' के साथ 'अनुभव का अपनापन' भी है। 'विवेक के रंग' में अवस्थी जी विज्ञापन से बचते हुए नयी रचनाशीलता के समान्तर ही आलोचना में आने वाले नए उन्मेष की पहचान की है। अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वे यह भी बताते हैं कि - संकलन का उद्देश्य किसी प्रकार से नयी आलोचना का विज्ञापन नहीं है - पर संकलन तैयार हो जाने पर संपादक को यह देखकर हर्ष भी हुआ और आश्चर्य भी कि नयी रचनाशीलता के समानान्तर ही आलोचना में भी एक नया उन्मेष दिखाई देता है। नये-पुराने के मध्य स्थानान्तरण की प्रक्रिया यहाँ भी उपस्थिति है।

ऐसा ही प्रयास देवीशंकर अवस्थी नई कहानी की तमाम बहसों को समेटते हुए 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' पुस्तक में करते हैं। इस तरह वे आलोचना के पहले दायित्व की पूर्ति करते हैं जो कि उनके अनुसार नवलेखन के प्रति ही होना चाहिए।

---

28 'विवेक के रंग', देवीशंकर अवस्थी, पृ. 10

'समकालीनता' और 'नये यथार्थ की पहचान के साथ-साथ देवीशंकर अवस्थी ने साहित्य में रचनाकार और आलोचक की 'ईमानदारी' पर भी विचार किया है। रचनाकार के लिए 'ईमानदार' होने की कसौटी उनके यहाँ यह है कि "रचनाकार कविता के विविध तत्वों को संघटित और रुपायित करने में कितना सफल हो सका है।"[29]

'ईमानदारी' का संबंध व्यक्ति के स्वयं के प्रति जाग्रत विवेक के द्वारा परिवेश से जुड़ाव में निहित है। रचना का रूपपक्ष और उसकी अन्तर्वस्तु की संरचना में बहुधा ऊपरी अंतर नहीं होता। अन्सर्ट फिशर ने कला की रचना को एक अत्यन्त सचेतन बुद्धि सम्मत प्रक्रिया मानकर साहित्य और कला में ईमानदारी का संबंध रचनाकार की बौद्धिकता से जुड़े रहने का संकेत दिया है।[30] 'भावुकता' और 'बौद्धिकता' हमेशा तो नहीं लेकिन ज्यादतर मानसिक स्थितियों में परस्पर विरोधी निष्कर्षों एवं परिणामों की जन्म देनी वाली प्रक्रियाएँ हैं। अतः भावुक कलाकार साहित्य और कला के आनंदमय रूप का संगठन कर सकता है, लेकिन उस आनंद का स्वरूप कैसा और क्या हो? इसका निर्धारण वह प्रायः नहीं कर पाता। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि साहित्य में ईमानदारी का यह दायित्व भावुक कवि बहुधा नहीं निभा पाते।

रचना की 'सिद्धावस्था' का स्वरूप बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि रचनाकार की साधना की क्या अवस्थाएँ रही हैं? 'आधुनिकता' तथा 'समकालीनता' परम्परा की निरंतरता में तभी तक योग देती हैं जब तक साहित्य में जीवन-यथार्थ का सही रूप उभरकर सामने आता हैं। जीवन-यथार्थ भी कैसा? देखा हुआ ही नहीं, भोगा हुआ थी। इस भोगे हुए यथार्थ की सही पहचान तभी हो सकती है जब रचनाकार के भावग्रहण तथा उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया के संबंध और रचनाकार की कठिनाईयों को ज्ञान हो। लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों का समाजीकरण कैसा हो रहा है? और उसकी व्यपापकता क्या है? का पता हो। ऐसा तब संभव है जब साहित्य में ईमानदारी हो। ईमानदारी किसी चलताऊ मुहावरे की तरह नहीं बल्कि गहरे अर्थों में। जहाँ साहित्य

---

29 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.37

30 'साहित्य विधाओं की प्रकृति', संपादक देवी शंकर अवस्थी, पृ.3

और आलोचना में "आत्मपरक और वस्तुपरक खरी-खरी और खड़ी-खड़ी बात, जो एकदम वास्तवाधारित हो और वास्तव का उद्‌घाटन कर दे।"[31] सच को कहने का साहस हो। बहुत कुछ कबीर जैसा।

ऐसी ही 'ईमानदारी' आलोचक में हो, इसके लिए जरूरी है कि वह यथार्थ के पूरे दर्द और हर्ष से गहरे रूप में परिचित हो। आधुनिक रचनाकार और आलोचक की ईमानदारी के संदर्भ में देवीशंकर अवस्थी का यह कथन दृष्टव्य है -

> *"आधुनिकता के आधुनिक सभ्यता के पूरे दर्द और हर्ष को भोगे बिना ही जो लोग भारतीयता, भारतीय परपंरा या अपनी आध्यात्मिकता का ढोल पीटते हैं। वे या तो स्वयं ईमानदार नहीं है या इस भारतीय आध्यात्मिकता को भी हल्का बनाते हैं। मेरे लिए यह 'च्यूगंम' नहीं है, प्रखर बौद्धिकता एवं गहरी संवेदनशीलता और खोज द्वारा आयत्त करने की साधना है और इसका कोई 'शार्टकट' नहीं है।"*[32]

प्रस्तुत कथन में भारतीयता से प्रेम और उसके स्वरूप की समझ अलग बहस का मुद्दा हो सकती है। लेकिन उससे (या किसी भी जीवन यथार्थ से) जुड़ने की कठिन साधना पर बल और उसके लिए किसी 'शार्टकट' के बजाय 'प्रखर बौद्धिकता' और 'गहरी संवेदनशीलता' की गहन आवश्यकता पर जोर-साहित्य, कला और संस्कृति के अध्ययन में 'ईमानदारी' की व्यापक जनोन्मुख संकल्पना तथा आलोचक की कठिन साधना की ओर संकेत हैं।

बौद्धिक प्रक्रिया के सहारे रचना के वैशिष्ट्य एवं कलात्मक मूल्यों को पहचानने का प्रयास देवीशंकर अवस्थी की आलोचना दृष्टि की अन्यतम विशेषता हैं। अपनी बौद्धिकता के चलते ही वे भाववादी दर्शन से अलग रचना के संदर्भ की तलाश करते हैं। संस्कार की जड़ता के विरूद्ध उनकी दृष्टि बौद्धिक प्रक्रिया के सहारे ही विकास की द्वन्द्वात्मक स्थितियों से अपना संबंध स्थापित कर सकी। यद्यपि की वे मार्क्सवादी

---

31 'समीक्षा की समस्याएं', मुक्तिबोध, पृ.28

32 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.42

आलोचक नहीं थे तथापि उनकी विश्लेषण पद्धति ऐतिहासिक विकासवाद की धारणा से मेल खाती है। वे साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद बना देने वालों का विरोध करते हैं, लेकिन इस बात से भी वाकिफ हैं कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से 'साहित्य में चित्रित मानव मूर्ति का रूप भी बदलता है।' बदलती मानवमूर्ति की संकल्पना देवीशंकर अवस्थी के गुरू आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की है, जिसे वे 'अशोक के फूल' निबंध से स्पष्ट करते हैं। आचार्य द्विवेदी की तरह देवीशंकर अवस्थी भी मानते हैं कि इस बदलते रूप के मूल में 'संघर्ष' होता है। सघर्ष ही इसे नयी शक्ति प्रदान करता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने माना है कि संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पायी है, हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देवीशंकर अवस्थी भी 'ग्रहण' और 'त्याग' की संस्कृति को सांस्कृतिक विकास की अनिवार्य शर्त मानते हैं, जिसे समझना रचनाकार के लिए जितना जरूरी है, आलोचक के लिए उससे कम महत्त्व की चीज़ नहीं। नए साहित्य को समझने के लिए नए समाज का बोध आवश्यक है। (दूसरे शब्दों में नया संघर्ष बोध) और यह बोध ग्रहण-त्याग की समझदारी के बगैर नहीं हो सकता। हाँ इसके लिए 'बिनु पहिचाने' का स्वभाव रचनाकार और आलोचक दोनों को भ्रमित कर देता है। देवीशंकर अवस्थी इसके लिए द्वन्द्वात्मक स्थितियों को समझने पर जोर देते हैं। नए साहित्य की बोधगम्यता को वे युगीन संदर्भों के साथ जोड़कर देखते हैं। प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक कला की निर्माणकारी स्थितियों-परिस्थितियों का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा कि - "उस समय के काव्यानुशीलन से जो चित्त का संस्कार होता था, उसमें समसामयिक काव्य के लिए पृष्टिका बनी रहती थी। परन्तु आधुनिक काल में ऐसा नहीं है। कारण यह है कि आज विकास की प्रकिया इतनी तीव्र है और परिवर्तन इतने तेजी से घटित होते हैं कि कोई भी प्रवृत्ति अधिक दिन नहीं चल पाती। अनेक प्रवृत्तियों के एक साथ उपस्थित होने पर किसी एक परंपरा का अनुशीलन करने वाला व्यक्ति इन विविध प्रवृत्तियों तथा

परिवर्तनों को दुरुह समझने लगता है।"[33] देवीशंकर अवस्थी का यह कथन समीक्षक को परिवर्तनकामी जीवन-शक्तियों के प्रति समझदारी विकसित करने की वकालत करता है। समीक्षा का यह समस्या, पाठक की भी समस्या बन जाती है, यदि किसी कृति की व्याख्या केवल ऊपरी और स्थूल कार्य कारण संबंधों के आधार पर कर दी जाती है। मुक्तिबोध समीक्षक के इसी दायित्व की चर्चा समीक्षा की समस्याओं पर विचार करते हुए कर चुके थे, कि समीक्षक- "उस मनोवैज्ञानिक स्थिति-परिस्थिति को उस 'सायकॉलाजिकल सिच्युएशन' को समझे कि जो लेखक के साहित्य-सृजन का प्रारंभ बिंदु बनती है। यानी की समीक्षक साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि को हृदयंगम करे।"[34] देवीशंकर अवस्थी की इससे संबंधित अवधारणा में हम हजारी प्रसाद द्विवेदी की जीवन-दृष्टि और मुक्तिबोध की विश्लेषण पद्धति का विकसित रूप देख सकते हैं।

देवीशंकर अवस्थी के लिए आलोचना 'कलात्मक चिंतन' के विकास प्रक्रिया को जानने-बूझने का जरिया है। कलात्मक चिंतन का विकास, अभिरूचि के विकास से जुड़ा है। अतः आलोचना का कार्य साहित्य में अभिरूचि की विकास परंपरा की पहचान करना भी होता है। साहित्य की अभिरूचियों का संबंध उसके प्रयोजन तथा निहितार्थ से जुड़ा होता है। इन्हीं प्रयोजनों एवं निहितार्थों की पूर्ति के हेतु साहित्य में नवीनता का आगमन होता है। नवीनता के तत्वों में अन्तर्वस्तु का अध्ययन ही नहीं होता बल्कि रूप, भाषा, शैली आदि की गतिमान दशाओं का आंकलन भी किया जाता है।

देवीशंकर अवस्थी इसके लिए रचना की आन्तरिक-अध्ययन विधि की बात करते हैं। भाषा को माध्यम बनाते हैं और भाषा के सेतु से वे कृति की आन्तरिक एकाग्रता में निहित सामाजिक सत्य की खोज करते हैं। भाषा को कृति के रूप पक्ष से संबद्ध किया जाता है, लेकिन वह नितांत वैयक्तिक नहीं होती। वह व्यक्ति के साथ समाज की भी निधि होती है। इस तरह रचना वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक अनुभव के सार को

---

33 'वही, पृ.

34 'समीक्षा की समस्याएं', मुक्तिबोध, पृ.33

अपने में समाहित किए रहती है। देवीशंकर अवस्थी भाषा की इस शक्ति को पहचानते हैं कि शब्द सामाजिक स्वीकृति के बिना नहीं चलता है। इन्हीं अर्थों में रचना की सामाजिकता की खोज होनी चाहिए। भाषा की सामाजिकता से यथार्थ का आंकलन किया जा सकता है।

वस्तुपरक 'सामाजिक यथार्थ' और मन का 'आन्तरिक यथार्थ' दोनों मिलकर रचना में समग्र यथार्थ का निर्माण करते हैं। आन्तरिक यथार्थ और 'सामाजिक यथार्थ' परस्पर साथ घटित होने वाली, क्रियाएँ हैं। यथार्थ का रूप रचना में कैसा है? यह सब निर्भर करता है कि रचनाकार में यथार्थ को देखने की दृष्टि क्या है?यथार्थ और जीवन -सत्य जैसे शब्द जितनी अधिक मात्रा में विभिन्न तरीके से समकालीन आलोचना में प्रयुक्त हुए, उतने शायद ही कभी हुए हो। समकालीनता के दौर का कोई भी रचनाकार इन शब्दों के प्रयोग करने में गर्व का अनुभव करता हैं। लेकिन यथार्थ और 'जीवन-सत्य' को सही रूप में परिभाषित कौन कर सका? मुक्तिबोध, नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी आदि लोगों ने यथार्थ की सही पहचान की ओर अपने विश्लेषण में सिद्ध किया कि भाववादी जिस यथार्थ और 'जीवन सत्य' का नारा लगाते हैं वह वास्तविक भौतिकवादी यथार्थ से कैसे भिन्न और अमूर्त है।

समकालीन साहित्य का सामान्य पाठक इस बात को समझ सकता है कि यथार्थ की समझ किसी अमूर्तता में नहीं, जीवन के अंतर्विरोधी स्थितियों के बीच से विकसित की जा सकती है। विभिन्नता अंतर्दृष्टि की है। प्रश्न करें- जिस दृष्टि से मुक्तिबोध यथार्थ को समझते हैं, क्या वहीं दृष्टि अज्ञेय और साही की भी है? उत्तर होगा-नहीं। कारण-जीवन और जगत को देखने में दृष्टियों की भिन्नता है। रचनाकार के आत्मसंघर्ष को आलोचक कितना पकड़ पाता है यह यथार्थ के प्रति उसके नजरिए पर निर्भर करता है। नई कविता के कवि मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष पर विचार करते हुए देवीशंकर अवस्थी की टिप्पणी है कि -

> *"मुक्तिबोध के सामने भी वस्तुत एक ओर अप्रतियता, अद्वितीयता, लेखक की तीखी व्यक्तिवादिता के सिद्धान्त थे और दूसरी ओर मार्क्सवादी विश्वासों के*

अनुरूप गहन सामाजिकता और सामाजिक दायित्व का संकल्प भी उनके भीतर था और इस द्वन्द्व को भी फन्तासी के उस शिल्प में ही समाधान मिलता है। ये कविताएँ जहाँ एक ओर गहन रूप से आत्मपरक दिखती हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक संबंध सूत्रों की खोज और उद्‌घाटन भी उनमें घटित होता चलता है।[35]

यह मुक्तिबोध के माध्यम से नई कविता के कवि के संघर्ष को पहचानने और यथार्थ को जानने की कोशिश है।

उल्लेखनीय है कि नई कविता में मुक्तिबोध एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनका बड़प्पन सामाजिक ऐतिहासिक द्वन्द्व की पहचान के कारण हैं रचना प्रक्रिया के संदर्भ में जिस तरह 'आत्मचेतस' से 'विश्व चेतस' तक की यात्रा मुक्तिबोध करते हैं। लगभग वैसा ही प्रयास अवस्थी जी ने आलोचना की मानवीय चिंता के खोज के क्रम में 'नई कहानी' के मूल्यांकन में किया है। महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' पर बात करते हुए उन्होंने 'यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ' का सवाल उठाया। कहानी के यथार्थ के संदर्भ में वे मानते हैं कि - "यहाँ उस द्वंद्व को उपस्थित किया गया है जो 'मूल्यहीनता' के कारण व्यक्ति में उत्पन्न हो गया हैं। और यह द्वन्द्व अधिक विकसित यथार्थ का परिचायक ही नहीं, ज्यादा बड़ी कलात्मक क्षमता भी चाहता है।"[36] कहानी की आलोचना में देवीशंकर द्वारा उठाया गया यह प्रश्न किसी रचना को देखने की अधूरी दृष्टि अथवा रचना का अधूरा साक्षात्कार नहीं, बल्कि वह रचनाकार द्वारा नियोजित कला के संपूर्ण सौंदर्य को देखने का प्रस्ताव है।

किसी खास तरह के 'काव्यास्वादन' के आग्रह से मुक्त देवीशंकर अवस्थी के 'काव्यानुशासन' में यथार्थ के व्यापक साक्षात्कार और विषयों की विविधता दिखायी पड़ती है। नई कविता के संदर्भ में उनकी मान्यताएँ 'क्षणवादी' धारणाओं से अलग है। उन्होंने 'नई कविता' में काव्य विषयों के अभाव पर चिंता प्रकट की और विषयों की

---

35 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.57

36 वही, पृ.135

सीमित परिधि को विस्तारित करने पर बल दिया। यथार्थ का बदलता हुआ जो रूप समाज में आ रहा था। नई कविता में विषयों के संकुचित दायरे में वह व्यक्त नहीं हो पा रहा था। इसका प्रमुख कारण कवियों की 'क्षणवादी' जीवन दृष्टि थी। नया यथार्थ पुराने यथार्थ से भिन्न तथा विशिष्ट था। इस भिन्नता और विशिष्टता के आधार पर आधुनिक कविता के विस्तृत यथार्थ को, मध्यकालीन काव्य विषयों वाली धारण से अलगाते हुए अवस्थी जी ने लिखा है कि - "आधुनिक कविता में यथार्थ के प्रसार के साथ-साथ यह धारणा व्यापक होती गयी कि कवता के लिए कोई भी विषय अकाव्यात्मक नहीं होता है। मध्यकाल की काव्य विषयों वाली धारणा से यह नितांत पृथक भूमि है। पर नई कविता तक पहुँचते-पहुँचते ऐसा लग कि सभी कुछ को काव्यात्मक मानने वाली यह धारणा मात्र क्षुद्र, उपेक्षित, गलित या कुंठित के चित्र में ही सीमित हो गयी है।"[37] क्षुद्र और उपेक्षित, गलित या कुंठित काव्य का विषय न बने, ऐसा अवस्थी जी नहीं कहते, लेकिन इन स्थितियों एवं परिस्थितियों के मध्य मनुष्य की जो चिंता है वह व्यापक समुदाय के हित में हो, उनका आग्रह इसके प्रति है। नयी कविता में लघु मानव की कल्पित धारणा लघुता पर ज्यादा मानव पर कम ध्यान देने लगी थी, इसी की ओर अवस्थी जी ने ध्यान आकर्षित किया है।

साहित्य में वेदना, दुःख और निराशा की स्थितियाँ एक नवीन संसार की रचना करती है लेकिन इन स्थितियों की सही व्यंजना बगैर ठोस परिस्थितियों के मध्य से विकसित पात्रों के द्वारा नहीं हो सकती। इन परिस्थितियों के मध्य से निर्मित चरित्रों की विडम्बना, साहिष्णुता और मानवता की भावना उत्पन्न करता है। मुक्तिबोध के कठिन काव्यसंघर्ष के द्वारा इसमें सफल होते हैं उनके काव्यात्मक संघर्ष पर देवीशंकर अवस्थी की भविष्यवाणी है कि - "वह बड़े कवि थे और आगे भी बड़े माने जाएँगे।"[38]

साहित्य मनुष्य को निरन्तर मानवीय बनाता है। मानवीय होने की शर्ते जीवन और जगत संबंधी मूल्य-चिंता से जुड़ी होती है। यह मूल्य-चिंता व्यापक समुदाय के

---

37 वही, पृ.53

38 वही, पृ.55

हित में हो तथा सही दिशा में हो। साहित्य और कला के प्रयोजन की यही चरम सार्थकता है। साहित्यकार मूल्य-चिंता की व्यापकता तथा निरंतर मानवीय होने की स्थितियों की खोज में संलग्न रहता है। इसके लिए वह अतीत की यात्रा भी करता है, अतीत के माध्यम से स्वयं के समय का परीक्षण करता है। यह एक प्रक्रिया होती है जिसमें अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता वर्तमान भी अतीत का नया मूल्यांकन करता है। इस तरह वर्तमान द्वारा अपनी एक परंपरा की तलाश इस द्वन्द्वात्मक प्रभाव सापेक्ष की क्रिया के माध्यम से संपन्न होती है। इस परंपरा के निर्माण के लिए रचनाकार के सामने चुनौती यह होती है कि उसकी दृष्टि अतीतोन्मुखी न हो जाये, भविष्य की ओर उन्मुख रहे। क्योंकि अतीतोन्मुखता जड़ता की ओर ले जाती है और भविष्योन्मुखता विकास की ओर। सांस्कृतिक जीवन की समृद्धता के लिए रचनाकारों द्वारा किया गया यह कार्य प्रशंसनीय होता है। लेकिन यदि कला और काव्य में विषयों की ही अभावग्रस्तता हो,तो यह समृद्धता क्या दरिद्रता में नहीं बदल जाएगी? अतः सांस्कृतिक विकास के प्रति समर्पित आलोचक की 'नई कविता' के संदर्भ में यह चिंता स्वाभाविक है कि -

> *"क्रांति, प्रतिक्रांति, युद्ध, अकाल, दण्ड, भुखमरी, प्रलय-तिरस्कार के विराट चित्र क्यों नई कविता में नहीं उत्पन्न हो रहे हैं? काव्यात्मक स्थितियों को लेकर लंबी वर्णनात्मक कविताएँ नयी कविता में क्यों विरल ही है? 'अंधायुग' 'असाध्य वीणा' या मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ अपवाद जैसी क्यों लगती है? सब मिलाकर पिछले दो-तीन सालों में कविता बिना जाने ही जिस छोटेपन के स्तर पर जा पहुँची है, उसकी ओर हमारे कलाकारों को ध्यान देना चाहिए।"*[39]

देवीशंकर अवस्थी सांस्कृतिक विकास में आलोचक की महत्वपूर्ण भूमिका को पहचानते हैं। इसी क्रम में साहित्य की आलोचना और 'पुस्तक समीक्षा' का अंतर स्पष्ट करते हैं। साहित्य आलोचना और पुस्तक समीक्षा (ठववा तमअपमू) में अन्तर यह होता है

---

39 वही, पृ.54

कि 'रिव्यूवर' किसी पुस्तक का परिचय मात्र करता है किन्तु आलोचक उसका विवेचन, विश्लेषण के साथ मूल्यांकन भी करता है। आलोचक और 'रिव्यूअर' की भूमिका अलगाते हुए उन्होंने लिखा कि - "पुस्तक का रिव्यूअर किताब के प्रत्येक मूल्य को बताता है। किसी किताब में क्या पठनीय है, इसका वह उल्लेख करता है, परन्तु आलोचक केवल साहित्यिक मूल्यों को विविक्त और आकलित करता है।"[40] रचना के मूल्याँकन का निष्कर्ष सही और गलत कुछ भी हो सकता है (यद्यपि की सही और गलत भी सापेक्षिक शब्द है।) लेकिन सही और गलत दिशा का अलगाव बहुत कुछ इस बात से तय होता है कि समस्या से जूझने की क्या प्रणाली अपनायी गयी है। 'आलोचक' और 'रिव्यूअर' की भूमिकाएँ भी प्रणाली की भिन्नता से अलग हो जाती है।

"काव्य को उसके प्रथम अर्थ में ही पढ़ा जाना चाहिए"[41] अन्य बातों से सिर्फ उसके अर्थबोध में सहायता मिल सकती है - अवस्थी जी की नजर में इसका ज्ञान आलोचक को होना अति आवश्यक है। 'रिव्यूअर' अन्य पक्षों से भी उसके अर्थ देखने में स्वतंत्र होता है क्योंकि 'रिव्यूअर' की अपेक्षा साहित्यिक मूल्यों को पहचानने का दायित्व आलोचक पर कहीं ज्यादा होता है। आलोचक सिर्फ परिचय दाता नहीं होता, संस्कृति और साहित्य की दिशा और दशा का जिम्मेदार नागरिक होता है।

देवीशंकर अवस्थी ने कृतियों की ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से समीक्षा की है और इतिहास की कथावस्तु को रचना का अंग बनाने पर भी विचार किया है। इतिहास की कथावस्तु के ग्रहण कर लेने मात्र से कोई रचना ऐतिहासिक नहीं हो जाती- इसका संकेत हिन्दी के प्रथम आलोचक बालकृष्ण भट्ट दे चुके थे। 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना करते हुए भटट जी ने ऐतिहासिक कृतियों की रचना के लिए रचनाकार को यह सलाह दी कि वह ैचतपज वि ज्पउम को समझे। देवीशंकर अवस्थी भी 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक निबंध में इस संबंध पर विचार करते हैं।

---

40 वही, पृ.8

41 वही, पृ.14

ऐतिहासिक कृतियों में सृजन-प्रक्रिया का संघर्ष दुहरा होता है। रचनाकार के समक्ष इतिहास के तथ्यों की सत्यता बनाए रखने की चुनौती के साथ कल्पना के मिश्रण से उस कथावस्तु को समकालीन बनाना भी होता है। ऐतिहासिक कृतियों के सृजन में लेखक दूसरे युग में प्रवेश करता है। उसका यह प्रवेश केवल ऊपरी ही नहीं आन्तरिक स्तर पर भी होना चाहिए। उस स्तर तक जहाँ से वह 'चतपज वि जपउम' को समझ सके। ऐतिहासिक कृति के रचनाकार की महत्ता इस बात से तय होती है कि वह ऐतिहसिक वातावरण के आन्तरिक मन्तव्यों और उसमें निहित मानवीय चेतना को कितना ग्रहण कर पाता है। समकालीन यथार्थ की गतिमान शक्तियों के मूल स्रोतों का संबंध ऐतिहासिक कथावस्तु के साथ जितना गहन होगा। पाठक के लिए वह कृति उतनी ही प्रभावोत्पादक हो जाती है। देवीशंकर अवस्थी ने 'ऐतिहासिक उपन्यास' की रचना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है कि "यदि लेखक किसी युग विशेष को 'रिकंस्ट्रक्ट' कर रहा हो तो उस समय मूल आलोच्य वस्तु होगी उस युग का आंतरिक रूप। यदि युग के आंतरिक मन्तव्यों को उपस्थित करने में लेखक सफल हुआ तो यदि कुछ घटना या चरित्र इतिहास के तथ्यों के अनुवर्ती न भी हो तब भी वह रचना सफल कहा जाएगी। पर इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि युग की आन्तरिक विचारधारा, इतिहास की विकासमान शक्तियों एवं उस युग के 'सोशल मोड्स' के संपूर्ण चित्रण पर अधिक आधारित होते हैं।"[42]

तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक कृतियों में आने वाला जीवन अपने संपूर्ण रूप में गतिशील अवस्था के साथ उपस्थित हो। ऐतिहासिक कथावस्तु में समसामयिक समस्या का चोला पहनाकर किसी सरकश वाले की तरह, पात्र का गला काटते तो दिखाया जा सकता है लेकिन उसकी संवेदना को जाग्रत नहीं किया जा सकता। इतिहास मानवीय गतिविधि का हिस्सा है। ऐतिहासिक कृतियों में उसका रूप वैसा ही होना चाहिए। यथार्थ की मानवीय गतिविधि के विविध प्रकारों में दर्शन, समाजशास्त्र इत्यादि भी आते हैं लेकिन इतिहास इनसे भिन्न और विशिष्ट होता है। उसकी भिन्नता और विशिष्टता

---

42 वही, पृ.122

कालक्रम अर्थों में ही नहीं, न ही घटनाओ के संकलन के मात्र में। वह भिन्न है एक जीवन-दृष्टि के रूप में। वह जीवन-दृष्टि का एक हिस्सा होता है, जिसमें दर्शन और समाजशास्त्र की भी ऐतिहासिक पहचान संभव होती है। ऐसा हिस्सा जिसमें वैचारिक और सांस्कृतिक दोनों प्रकार की दृष्टियों का योग होता है। जब कला रूपों में ऐतिहासिक तथ्यों की चर्चा की जाती है तो इतिहास ज्यादा सरस और ज्यादा करीब आ जाता है। तथ्यों के साथ ईमानदारी और अपनी मौलिकता को बचाने का दायित्व ऐतिहासिक कृतियों के रचनाकार पर होता है। रचनाकार में ऐसी क्षमता का विकास कैसे हो सकता है, "ऐसा तभी संभव है जब उसे समाज की द्वंद्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध स्तरों की आंतरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे।"[43] 'समाज की द्वंद्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान' और 'मानवीय चेतना के विविध स्तरों के आभास' से रचनाकार इतिहास और वर्तमान के बीच एकसूत्रता स्थापित करता है और इसी प्रकार वह वर्तमान और इतिहास दोनों के प्रति न्याय कर पाता हैं

'ऐतिहासिक उपन्यास' में रचनाकार की जटिल प्रकिया का पाठ जिस प्रकार देवीशंकर अवस्थी इतिहास की विकासमान शक्तियों को समझकर करते हैं, उसी पद्धति से वे साहित्य की विविध विधाओं के विकास और उनके प्रति आलोचना के संबंध को भी उजागर करते हैं। 'हिन्दी की नाटक समीक्षा' निबंध भारतेन्दु युग से लेकर आज तक (समकालीन समय तक) नाटक विधा के विकास को रेखांकित करता है।

साहित्यिक विधाएँ सामाजिक परिवर्तनशीलता की माँग की उपज होती है। इन विधाओं के अध्ययन के लिए परिवर्तनगामी स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। देवीशंकर अवस्थी विधाओं को एक व्यवस्था मानते हैं और जड़ता की कोटियों से अलग उसे उसकी आंतरिक संगति के अनुसार समीक्षित करते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के चलते वे रंगशाला समीक्षा और नाटक सीमक्षा को एक नहीं मानते। नाटक के विकास और आलोचना के संदर्भ में उनका कथन है कि

---

43 वही, पृ.123

"साहित्यिक विधाओं का सिद्धांत वस्तुतः एक व्यवस्था का भी सिद्धांत है और एक सामान्य साहित्यकता में उसे घटाकर ले आने से एक नाटक को एक कहानी से अलगाया नहीं जा सकेगा। उपन्यास हो या नाटक दोनों का रूपबंध अपने-अपने ढंग से सुगठित या 'आरगैनिक' होता है। और बिना इसकी चेतना उत्पन्न हुए और इस रूपबंध के विश्लेषण की सम्यक पद्धति विकसित किए यही छात्रोंपयोगी सुविधावाद चलता रहेगा।"[44]

छात्रोपयोगी सुविधावाद की समीक्षा पद्धति ही नाटक की आलोचना के विकास में बाधक रही है। हिन्दी नाटक के उद्‌भव के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कि यह टिप्पणी कि 'आधुनिक गद्य परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से ही हुआ' को उद्‌धृत करते हुए देवीशंकर अवस्थी समीक्षा के उस जन्म काल की यह विशेषता पहचानने में सफल रहे कि भारतेन्दुयुग में 'नाटक' जैसी विधा का महत्त्व समीक्षा में स्पष्ट रूप से आ रहा था। बालकृष्ण भटट् और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' की नाट्य समीक्षाओं के हवाले से उन्होंने रेखांकित किया कि - "गद्य साहित्य पंरपरा का नाटकों के माध्यम से प्रवर्तन भले ही विलक्षण बात हो, पर आलोचना के साथ केवल यही कहा जा सकता है कि अपने प्रारंभिक युग में उसने समसामयिक रचनाशीलता के महत्वपूर्ण अंश को पहचानने में कोई भूल नहीं की।"[45] नाटक की जो आलोचना भारतेन्दु युग में प्रारंभ हुई उसमें 'प्रेमधन' की समीक्षा को देवीशंकर अवस्थी 'स्टक्चरल क्रिटिसिज्म' के तत्व ढूँढ़ते हैं, और यह अफसोस भी जाहिर करते हैं कि "काश, हिन्दी की नाटक (या कथा) समीक्षा प्रेमधन के रास्ते पर आगे बढ़ पाती।" समीक्षा और रचनाशीलता के संबंध प्रत्येक युग में द्वंद्वात्मक होते हैं। रचनाशीलता की दिशा तय करने में समीक्षा का महत्त्वपूर्ण योग होता है। जबकि समीक्षा के प्रतिमानों का व्यावहारिक परीक्षण तत्कालीन रचनाशीलता के साथ होता है। दोनों के संबंध द्वंद्वात्मक हो यह इस बात पर निर्भर करता है कि रचनाशीलता और आलोचना में ऐतिहासिक अन्तर्विरोधों की समझ समान हो। आलोचक

---

44 वही, पृ.170

45 वही, पृ.161

यदि सजग नहीं है तो रचनाशीलता के जीवन अनुभवों के साथ उसका सही संबंध नहीं स्थापित हो पाता।

रचनाशीलता और आलोचना दोनों एक दूसरे के विकास में सहयोग देते हैं। द्विवेदी युग में आलोचना के केन्द्र में कविता के आ जाने का एक बड़ा कारण देवीशंकर अवस्थी मौलिक नाटकों की कमी को जिम्मेवार ठहराते हैं। फिर नाटक की आलोचना का क्षेत्र सिकुड़ता गया। कक्षाओं में पढ़ने के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की प्रभाव क्षमता तथा कलात्मक वैशिष्टय का वैसा निरुपण नहीं हो सकता जैसा कि सांस्कृतिक विकास के अभिन्न अंश के रूप में उसकी चर्चा में संभव है। नाटक की रचनाशीलता में यथार्थ की जमीन अपने उत्कृष्ठ रूप में बाद में विकसित हुई। जयशंकर प्रसाद ने छायावाद के दौर में जो नाटक लिखे उनमें स्वाधीनता के संघर्ष के नाटकीय उपयोग की क्षमता दिखती है। यद्यपि छायावादी आलोचना का जुड़ाव जीवंत रूप में नाटक की विधा के साथ न हो सका। नाटक के अध्यन में पाठ्यक्रम की 'शास्त्रीय' प्रणाली एक बाधक तत्व रही है।

देवीशंकर अवस्थी नाटक के अध्ययन में संवाद मीमांसा को बहुत महत्त्व देते हैं। आखिर में नाटक का सर्वतोप्रमुख लक्षण भी वही है। वे नाटक के मूल्याँकन की जड़पद्धति के विरूद्ध संवादों के अध्ययन में यह सवाल उठाते हैं कि- "संवादों के कितने प्रकार प्रयुक्त हुए हैं? कथानक, पात्र या रस योजना के लिए उनका क्या औचित्य है? अलग-अलग आए संवाद क्या किसी भाषा 'पैटर्न' के अंग है?"[46] देवीशंकर अवस्थी अपनी आलोचना में भविष्योन्मुखी दृष्टि अपनाते हैं। वे स्वतंत्रता के बाद नाटक और रंगमंच की नयी क्रियाशीलता से परिचित हैं। उत्तर औपनिवेशिक दौर की हिन्दी आलोचना में शास्त्रीय समीक्षा की जड़ पद्धति से अलग एक नयी नाट्य समीक्षा की तैयार होती जमीन का अभास उन्हें है- "ऐसा लगता है कि एक नई नाट्य समीक्षा की

---

46 वही, पृ.169

जमींन तैयार है। नटरंग जैसी पत्रिका का प्रकाशन इस नए स्वर की मुखरता का सबसे बड़ा प्रमाण है।"[47]

आलोचक के साहित्यिक मूल्य और उसके विश्लेषण क्षमता की गहराई इस बात पर निर्भर करती है कि आलोचना के सूत्र निर्माण में किन उपादानों का योग रहा। दूसरे शब्दों में यह कि आलोचक की तैयारी कितनी है? देवीशंकर अवस्थी के साहित्यिक सिद्धांत जैसा कि कहा जा चुका है -नये साहित्य के स्वीकार के साथ निर्मित और विकसित हुए हैं। वे नयी रचनाशीलता, विशेषकर 'नई कहानी' को अपने विवेचन का मुख्य आधार बनाते हैं। यह उनका समकालीनता बोध था जिसके चलते वे 'नई कहानी' आंदोलन को परिभाषित और विश्लेषित करने में सफल हुए। 'नई कहानी' के समूचे आन्दोलन को स्थितियों और परिस्थितियों के मध्य बनते -बिगड़ते रिश्तों में व्याख्यित कर उन्होंने कथा-समीक्षा की एक नयी परंपरा चलायी। जिसे सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर यथार्थवाद' में 'तीसरी परंपरा' के नाम से पुकारा है। हिन्दी में कथा-समीक्षा का आरंभ (विशेषकर नई कहानी के दौर में) देवीशंकर अवस्थी से मानकर सुधीश पचौरी ने नामवर सिंह के बरक्स अवस्थी जी को बड़े कथा आलोचक का दर्जा दिया है। देवीशंकर अवस्थी 'नई कहानी' के प्रमुख कथा-समीक्षक है। उनकी पुस्तक 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' कथा आलोचना की समकालीन पीढ़ी की समग्र सोच-विचार का दस्तावेज है। एक ऐसा दस्तावेज जिसमें संकलित लेख 'नई कहानी' के बदलते संदर्भ तथा उसकी बनती प्रकृति को विविध कोणों से परिभाषित, व्याख्ययित करते हैं।

साहित्य में किसी नयी प्रवृत्ति के साथ आलोचना की सबसे बड़ी चुनौती उसकी नवीनता को परिभाषित करने की होती है। 'नई' विशेषण से दो तरह की व्यंजना होती है। एक तो पुराने से भिन्नता की, दूसरी नवीनता के विशिष्टता की। 'नई कहानी' आन्दोलन के साथ भी ऐसा ही प्रश्न खड़ा हुआ कि आखिर नई कहानी में 'नया' क्या है? यह सब कुछ इस बात से तय हो रहा था कि पुरानी कहानी से नई कहानी में

---

47 वही, पृ.171

भिन्नता के स्तर और स्वरूप क्या है? देवीशंकर अवस्थी ने इस प्रश्न पर विचार किया है। 'नई कहानी' के कथ्य तथा शिल्प से 'पुरानी कहानी' को अलगाते हुए उन्होंने उसकी विशिष्टता को इन शब्दों में रेखांकित किया - "अगर पुरानी और नई कहानी के अंतर को देखा जाए तो पहले का कहानी लेखक एक ऊपरी बौद्धिक सतह से कुछ समस्याओं को लेता था और उसमें 'भावुकता' या 'करूणाभास' का जल मिलाकर स्पर्शी (मर्म या हृदय या सतही झनझनाहट) कहानियाँ लिखता था। उसकी बजाय आज का कथाकार अपने अनुभव को पहले टटोलता है और उसके माध्यम से तमाम समस्याओं, प्रश्नों (या अप्रश्नों) को ढूढ़ता और झेलता है। एक का एप्रोच बौद्धिक और अंत लिजलिजी भावुकता में और दूसरे का एप्रोच भावप्रवण पर अंत एक शक्तिपूर्ण बौद्धिक संभावना में। ग्राफ के कर्व शायद इसी स्थिति के आसपास होंगे।"[48] नई और पुरानी कहानी के रचना-प्रक्रिया का यह अंतर बदलती जीवन स्थितियों के कारण हो रहा था। जिसे देवीशंकर अवस्थी, सुरेन्द्र चौधरी, नावमर सिंह आदि कहानी आलोचक पहचान रहे थे।

यथार्थ के बदलते स्वरूप को ध्यान में रखकर देवीशंकर अवस्थी कहानी के मूल्याँकन में सबसे ज्यादा जोर, 'कहानी में यथार्थ की खोज' पर देते हैं। लेखक के लिए आवश्यक है कि वह यथार्थ को दृश्यमान करे। कथा समीक्षा की चुनौती लेखक की टेक्नीक की पड़ताल करना उतनी नहीं है जिनती कि लेखक के दृश्यमान यथार्थ के भूगोल की पैमाइश की।

'साहित्य विधाओं की प्रकृति' की पहचान पर जोर देवीशंकर अवस्थी की आलोचना में अक्सर दिखायी पड़ता है। उन्होंने साहित्य विधाओं की प्रकृति नामक पुस्तक का संपादन भी किया, वे मानते हैं कि हर विधा की अपनी प्रकृति होती है, इसलिए किसी एक विधा की बनी हुई पद्धति पर दूसरी विधा का मूल्याँकन नहीं हो सकता। 'नई कहानी' के मूल्याँकन में भी उन्होंने कथा समीक्षा के स्कूली पाठ्यक्रम के बँधे-बँधाएँ छह तत्वों वाले साँचे के बरक्स (जो कि नाटक और उपन्यास के लिए भी

---

48 'आलोचना का द्वन्द्व', देवीशंकर अवस्थी, पृ.40

था) भिन्न दृष्टि अपनायी। वे कहानी की पाठ-प्रक्रिया और विश्लेषण में 'प्रभावन्विति' पर जोर देते हैं। उन्होंने प्रभावन्विति के सहारे लेखक के अनुभव जगत को जानने का प्रयास किया और फिर कथा समीक्षा में 'अनुभव की प्रमाणिकता' का भी सवाल उठाया। यह सवाल लेखक के बदलते भाव-बोध की ईमानदारी की पड़ताल करता है।

'नई कहानी' के संबंध में एक प्रमुख मुद्दा ग्रामकथा बनाम शहरीकथा के विभाजन का था, देवीशंकर अवस्थी ने अनुभव की प्रमाणिकता और यथार्थ की सटीक व्यंजना को आधार बनाकर, साहित्य की मूल प्रवृत्ति के विरूद्ध किए गए इस विभाजन का विरोध किया। वे मानते हैं कि अनुभूति की पकड़ भावों को किसी ग्राम अथवा शहर में नहीं बाँटती। वह जिन्दगी के 'मूड्स' को पकड़ती हैं।

> *"विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री चुनने के आधार पर अलग-अलग बाड़े बना देने के स्थान पर यह कहना क्या ठीक न होगा कि गाँव-शहर, कस्बा, ईसाई, मुसलमान या आदिवासी, रेस्तरां, पहाड़ या धर्मशाला, आदि में जो आज जिन्दगी की तेजी (या सुस्ती) नीरसता या सरसता, बदली हुई चित्तवृत्ति, भिन्न प्रकार के दबावों में पले -बदलते हुए, संघर्ष करते हुए प्राणी या परिस्थितियाँ, जो भी है, वे सभी 'नई कहानी' के अंतर्गत है।"*[49]

यह सन् 54-55 के करीब हिन्दी कहानी में उभरी हुई नई पीढ़ी के कथाकारों के भावबोध को समझने का समग्रतावादी प्रयास है। नई संवेदना और बदले यथार्थ के स्वर को ग्रामकथा और शहरीकथा जैसे विभाजनों में अलगा दिया गया था। आंदोलन साहित्य में क्यों चलाये जाते हैं? फिर उन आन्दोलनों के भीतर छोटे-छोटे आन्दोलन क्यों पैदा हो जाते है? इन प्रश्नों पर कथा समीक्षक सुरेन्द्र चौधरी ने विस्तार से विचार किया है। ग्राम और शहर की अलग-अलग कहानियों के साँचे 'नई कहानी' आन्दोलन के भीतर चलाए जा रहे विभाजित यथार्थ के आन्दोलन थे। 'नई कहानी' अनुभवों के व्यापक यथार्थ और समूचे वातावरण को लेकर चलती है। उसमें ऐसा विभाजन करना कहाँ तक उचित होगा? 'नई कहानी' के लेखक के वैशिष्ट्य की पहचान करते हुए

---

[49] 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.128

अवस्थी जी को इस बात का बोध रहता है, कि 'नई कहानी' में एक क्षण भी कहानी है और एक समूचा वातावरण भी कहानी। कहानी की रचना किसी भी आधार को लेकर की जा सकती है। देवीशंकर अवस्थी की यह धारणा नई कविता की क्षणवादी अवधारणा लग सकती है, क्योंकि वे 'नयी कहानी' और 'नई कविता' का मूलभाव एक ही मानते हैं। उनके लिए 'नयी कहानी' और 'नई कविता' अभूतपूर्व न होकर जीवन की सहधर्मी व्यंजनाएँ हैं।[50] यद्यपि 'नई कविता' और 'नयी कहानी' के भावबोध की एकता की बात विवाद का विषय हो सकती है तथापि 'नयी कहानी' के विस्तृत वातावरण की समझ का विकास उनकी द्वंद्वात्मक पद्धति के कारण ही संभव हो सका। जिस क्षण 'शब्द' के प्रयोग के चलते हिन्दी कथा-आलोचना में अवस्थी को अज्ञेय के साथ खड़ा कर दिया जाता हैं। उसी क्षण के महत्त्व को कथा-समीक्षक सुरेन्द्र चौधरी ने कहानी के बदलते स्वरूप की पहचान में समझा है - "सामान्य जीवन परिस्थिति की ओर से एक तीखा आत्म-ज्ञान आज की कहानियों के 'स्वर' को पिछली कहानियों से पृथक करता मालूम पड़ता है। यह आत्म-ज्ञान कोई आध्यत्मिक ज्ञान नहीं है, अन्तःकरण का बोध नहीं है, यह अन्ततः जीवन के सम्पूर्ण प्रवाह में व्यक्ति की आत्मनिर्भर ईकाई का बोध है। यह बोध साक्षात्कार का एक क्षण भी हो सकता है, एक सम्पूर्ण जीवन भी।"[51]

'नई कहानी' की जिन सीमाओं की ओर देवीशंकर अवस्थी इशारा करते हैं, उनमें एक हैं बढ़ती 'एकरसता', और दूसरी है किस्सागों की प्रवृत्ति। 'एकरसता जहाँ कहानी को फामूर्ले में बदलती है, वहीं किस्सागोई की पद्धति अति व्यवहारिकता के चलते दृष्टि की धुंधला करती है। देवीशंकर अवस्थी ने इसी संबंध में 'एकरसता टूटे और बेकली और बढ़ें' नामक निबंध लिखा। निबंध में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि पाठक की एकरसता को तोड़ने का प्रयास जरूरी है। यह जागरूकता का लक्षण है। नये कहानीकारों का यह दायित्व भी है।

---

50 'आलोचना का द्वन्द्व', देवीशंकर अवस्थी, पृ.130

51 'हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति', सुरेन्द्र चौधरी, पृ.53

'नई कहानी' के मूल्याँकन में विवाद का एक बिन्दु कहानी के 'अच्छी' और 'नई' होने को लेकर था। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि भावुकता नए और पुराने के अन्तर को नहीं व्यक्त करती है। वह एक ऐसा भावपुंज है जो साहित्य मात्र का लक्षण है। 'कहानी अच्छी और नई' लेख इस बात को लेकर लिखा गया है कि 'अच्छी कहानी को नई होना चाहिए या नहीं?' पूरे लेख में देवीशंकर अवस्थी की आलोचकीय बौद्धिक प्रतिभा की झलक मिलती है। नामवर सिंह ने दिजेन्द्र नारायण निर्गुण की 'एक शिल्पहीन कहानी' को भावुकतापूर्ण और पुराने भावबोध की कमजोर कहानी कहा था।[52] प्रस्तुत लेख नामवर जी के साथ किया गया साहित्यिक वाद विवाद है। देवीशंकर अवस्थी प्रेमचंद की कहानी 'बूढ़ी काकी' को सामने रखकर नामवर सिंह की ही शैली में जबाव देते हैं। 'बूढ़ी काकी' और 'धरती अब भी घूम रही है' को आमने-सामने रखकर नामवर की आधुनिक दृष्टि और पद्धति दोनों के सामने एक लकीर खींचते हैं। नामवर जी का तर्क कि अनुभूति या पीड़ा एक की यदि है तो कहानी अच्छी नहीं। 'धरती अब भी घूम रही है' एक की पीड़ा है। 'छोटे-छोटे ताजमहल' एक की समस्या है, इसलिए उपेक्षाणीय है। देवीशंकर पूछते हैं कि, "एक की कहानी क्या सचमुच ऐसी ही विस्मरणीय एवं उपेक्षणीय होती है- खासकर कहानी जैसी मूलतः वैयाक्तिक और निजी कला में। ऐसा लगता है कि कहानियों की बात करते समय नामवर जी के मन में उपन्यास रहता है।"[53] अवस्थी जी के लिए वैयक्तिक अनुभूतियों को सामाजिक अनुभति के रूप में देखना; साहित्य में ज्यों का त्यों सामाजिक चित्र उतार देना नहीं है। 'नयी' क्या हो? और नएपन की सार्थकता क्या होती है? वे स्पष्ट करते हैं - "नयापन निरर्थक होता है, यदि वह अनुभव की संकुलता में नई अंतर्दृष्टि प्रदान न करे तथा वस्तुपरकता की एक नई प्रक्रिया को ही विकसित न करे।"[54]

'नयी कहानी' के मूल्याँकन में कविता के प्रतिमानों के प्रयोग का आरोप नामवर सिंह पर मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव द्वारा लगाया गया। कहानी के शिल्प की

---

52 'कहानी नयी कहानी', नामवर सिंह, पृ.87

53 'उत्तर यथार्थवाद', सुधीश पचौरी, पृ.22

54 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.134

व्याख्या में बिम्ब, प्रतीक और कथानक के समूचे ढाँचे की चर्चा होती है। देवीशंकर अवस्थी ने नामवर सिंह पर कहानी को उपन्यास की दृष्टि से पढ़ने का आरोप लगाया पर स्वयं काव्य -समीक्षा के प्रतिमानों को कहानी पर लागू करने के खतरों की ओर पर्याप्त सजग हैं। अवस्थी जी फ़िलिप राह्व के हवाले से बताते हैं कि ऐसा करने वाले तीन चीजों पर बहुत बल देते हैं - प्रतीक, मिथ, रूपक, अन्योक्ति आदि की खोज पर, भाषा पर और टेक्नीक को ही सब कुछ मानने पर। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि ऐसा करने से कृति के कथात्मक विकास की उपेक्षा होती है। फलतः "कोई एक स्थिति या भाषा-प्रयोग का विश्लेषण ही कसौटी बन जाता है, जबकि कथाकृति में महत्त्वपूर्ण तत्त्व कथानक (Plot) होता है। (प्लाट घटनाओं और विवरणों के अर्थ में नहीं, बल्कि अरस्तु की सहमति से "कार्य-व्यापार की आत्मा के अर्थ में) वे यह भी लिखते हैं कि - "प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविकता का अवमूलन करती है। कहना न होगा कि कथा रूपों की मूल संपदा अनुभव ही होता है, भले ही वह ऊबड़-खाबड़ या अपरिष्कृत हो ... ।"[55]

रचना की रूपबंध मीमांसा पर जोर देकर कहानी के शिल्प और यथार्थ की पहचान करते हुए देवीशंकर अवस्थी ने यथार्थ का शिल्प और शिल्प के यथार्थ पर भी विचार किया है। प्रत्येक युग रचना को केवल 'वस्तु' ही मुहैय्या नहीं कराता, रचनाकार युग संदर्भों में शिल्प के साँचे भी तलाशता है। अवस्थी जी ने 'एक पति के नोट्स (1964) महेन्द्र भल्ला और ' यह मेरे लिए नहीं' (1964) धर्मवीर की कहानियों के आधार पर शिल्प और यथार्थ के पुराने तथा नये स्वर को अलगाया है। महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' की प्रशंसा करते हुए अवस्थी जी बताते हैं कि यह कहानी प्रमाणिक अनुभव पर जोर देती है। यह बदले हुए संसार की कहानी है जिसमें कहानी के माध्यम से यथार्थ को खोजा गया है और यह खोज गहन प्रश्नशीलता से जुड़ी हुई है। जबकि भारती की कहानी में पुराने संसार का ही चढ़ाव है। इस तरह 'एक पति के नोट्स' कहानी शिल्प और यथार्थ दोनों स्तरों पर बड़ी और मूल्यवान कहानी बनती है।

---

55 'विवेक के रंग', देवीशंकर अवस्थी, पृ.5

क्योंकि - "सच्चाई की खोज एक श्रेष्ठ कला शिल्प की खोज भी है। दोनों वस्तुतः एक ही है। जिस मानवीय समस्या को उठाया जाता है उसी के अनुरूप ही कलाशिल्प को भी होना चाहिए। महेन्द्र भल्ला ने इस शिल्प की खोज की चेष्टा की है और दूर तक इसमें सफल भी हुए हैं।"[56]

'नयी कहानी' आन्दोलन के स्वरूप और उसकी प्रकृति के साथ-साथ देवीशंकर अवस्थी की कथा-आलोचना का क्षेत्र सन् 60 के बाद की कहानियों के विवेचन-विश्लेषण तक फैला हुआ है। किसी कालक्रम के लिहाज से साहित्य की विकासमान गति को नहीं बाँधा जा सकता। लेकिन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव उस पर पड़ता है। प्रभाव के चलते साहित्य में नई मनः स्थितिया और प्रवृत्तियाँ जन्म लेती है। साठ के बाद की कहानियाँ बदली हुई मनः स्थितियों की कहानियाँ है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान उपजे भविष्यवाद की आकांक्षा जो नई कहानी तक बनी थी सन् साठ के बाद उनका खण्डन दिखायी पड़ता है। व्यक्ति और समाज में एक 'अजनबियत' और 'भयावह' संदर्भों का उदय हुआ। कुल मिलाकर यह कि "जहाँ सन् 60 के पहले की कहानियों में एक स्पष्ट सामाजिक दृष्टि का आग्रह था अथवा 'मूल्यों की खोज' बनाम 'भविष्यवाद' था, सन् 60 के बाद की कहानियों में इसका बिल्कुल लोप हो गया। यथार्थ को उसके निर्मम रूप में सन् साठ के बाद की कहानियों में चित्रित किया गया है।"[57] इस बदले हुए यथार्थ के कथा-साहित्य पर समीक्षा के पुराने प्रतिमान हू-ब-हू लागू नहीं हो सकते थे। देवीशंकर अवस्थी ने साहित्य के मूल स्रोत जीवन में होने वाले बदलाव की गति को समझकर कथा समीक्षा के नए सूत्रों का विकास किया। उन्होंने आधुनिकता को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया माना और इसके पीछे के उत्तरदायी कारकों में विज्ञान, यंत्र, गति आदि के महत्त्व को समझा। प्रक्रिया के प्रवाह के बदलते संदर्भ में निर्मित रचनाशीलता में शिल्प और यथार्थ दोनों में नवीनता

---

56 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.140

57 'सामना', वीरभारत तलवार, पृ.225

आती है। यथार्थ के बदल जाने के बाद भी यदि शिल्प में बदलाव नहीं आता तो रचनाओं में घटनाएँ सत्य रहती हैं पर प्रभाव झूठा हो जाता है।

शब्द और चीजों के निरंतर बदलते संबंधों में 'समकालीनता', 'आधुनिकता' और 'यथार्थ' शब्द बहुत रपटीले हैं। जिन पर रचनाकार और आलोचक के फिसल जाने का खतरा लगातार बना रहता है। देवीशंकर अवस्थी शब्दों में इस रपटीलेपन से परिचित हैं। 60 के बाद की कहानियों पर बात करते हुए वे एमर्सन के इस कथन को उदघृत करते हैं कि 'हर युग को अपनी विशेषता में लिखना होता है, शायद हर पीढ़ी को और नई पीढ़ी को भी अपनी कहानियाँ लिखनी है।' इसी आधार पर उन्होंने ने उन समकालीन कहानियों को 'लोकेट' करने की कोशिश की है जो सचमुच बदले हुई स्थितियों और बदले हुए जीवन के अर्थ में समकालीन बन सकी है।

'नई कहानी' और सन् 60 के बाद की कहानी का अंतर केवल साहित्य में आ गया झोंका नहीं था। देवीशंकर अवस्थी के अनुसार "यह यथार्थ के प्रति अलग-अलग रूखों का भी अंतर है।"[58] वे मानते हैं कि 'नई कहानी' के लेखक में स्थितियों-परिस्थितियों के साथ 'लॉजिकल कनेक्सन' की समझ दिखायी पड़ती है। उस दौर की कहानियों में एक तरह का विवरण मौजूद रहता है। जो परिस्थितियों के मध्य पात्रों की स्थितियों एवं मन की दशाओं को तार्किक रूप में स्थापित और सिद्ध करता है। इसका व्यवहारिक उदाहरण देवीशंकर अवस्थी 'गुलरा के बाबा', 'चीफ की दावत', 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियों के द्वारा देते हैं। 60 के बाद की कहानी का लेखक इससे भिन्न दृष्टि अपनाता है। वह कहानी के पात्रों की तरह खुद भी अपनी दुनिया से अपरिचित है। उसे संबंधों की प्रमाणिकता का न तो ज्ञान है, और न ही वह कार्य-कारण की जानकारी से लैस होकर कहानी लिखने बैठता है। देवीशंकर अवस्थी सृजन-प्रक्रिया में आने वाले कालिक बदलाव को इस प्रकार रेखांकित करते हैं- "चौथे,

---

58 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ.155

पाँचवे दशकों के लेखक 'यथार्थ का सृजन' करते थे, तो पचास के लेखक यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, पर एकदम नया समकालीन कहानीकार यथार्थ को खोजता है।"[59]

किसी भी 'दर्शन' के बने बनाये नियमों के बजाय समकालीन कहानीकार अपनी रचना-प्रक्रिया में यथार्थ का जो दर्शन गढ़ता है वह उसके बदले हुए समाजबोध का प्रमाण है। 'नयी कहानी' में उपेक्षित पात्रों का स्मरण, स्मृतिशेष आंचलिकता, विभाजन का यथार्थ एक आशावादी स्वर के रूप में उपस्थित था। नये कहानीकारों में भविष्य के प्रति एक दृष्टि थी और उसी के आधार पर वे कथानक का ढाँचा तैयार करते थे - मार्कण्डेय, कमलेश्वर और शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में भविष्य के प्रति इस आस्थावादी स्वर का चित्र दिखायी पड़ता है। देवीशंकर अवस्थी के अनुसार इन कहानियों में इसी की खोज की जाती है, समकालीन कहानी भविष्य के अंधकार, संसदीय लोकतंत्र से जन की आशाओं पर होने वाले कुठाराघात, जिन्दगी की टूटती स्थितियों के प्रति किसी तार्किक संबंध के अभाव में -कहानियों में भी परिस्थिति और घटनाओं के बीच 'लॉजिकल कनेक्सन' नहीं मिलता। ऐसी कहानियों के मूल्याँकन के संदर्भ में अवस्थी जी का यह मानना सही है कि -

> *"साहित्यिक मूल्याँकन के समय आस्थावादी स्वर सबसे अप्रमाणिक ठहरते हैं चाहे वह 'अंधायुग' में हो या 'आत्मजयी' के नचिकेता में या 'उजडे हुए लोग', 'नीराजना', 'मलबे का मालिक' और 'आर्द्रा' में। साहित्य इन रचनाओं में वही उभरता है, जहाँ पराजय है, हताशा है, प्रश्न है - उत्तर नहीं।"*[60]

3.2 व्यावहारिक आलोचना

व्यवहारिक आलोचना का लक्ष्य कृतियों के मूल्याँकन में निहित है। मूल्याँकन में मूल्य चिंता होती है, जिसका संबंध विचारधारा से है। देवीशंकर अवस्थी साहित्य के मूल्याँकन में विचारधारा के आरोपण का विरोध करते हैं। पर विरोधी होकर भी वे एक

---

59 वही,

60 वही, पृ.156

विचारधारा (जिसे वे भाववाद और भौतिकवाद के संतुलन के रूप में देखते हैं) का समर्थन करते हैं। इसी संतुलन और समग्रता की केन्द्रिय सत्ता के इर्द-गिर्द उनकी कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी संबंधी साहित्यिक मान्यताओं का विकास हुआ है। इन मान्यताओं का व्यावहारिक पक्ष हमें उनकी पुस्तक-समीक्षाओं में दिखायी पड़ता है। सैद्धान्तिक विवेचन आलोचना को दिशा प्रदान करता है पर रचनात्मक साहित्य से लगाव ही सैद्धान्तिकी का अंतिम लक्ष्य होता है। रचनात्मक साहित्य ही वह कसौटी है जिस पर सिद्धान्तों की परीक्षा होती है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना -पद्धति में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः देखी जा सकती है। कृति की आन्तरिक अध्ययन विधि से वे नए समीक्षा-सूत्र निकालते हैं। रचना केन्द्रित आलोचना पर बल देते हैं और इस प्रकार सिद्धान्त से व्यवहार और व्यवहार से सिद्धांत की ओर लगातार आवाजाही करते रहते हैं। उनका काम संस्कृत काव्य-शास्त्र से अलग है। यहाँ सिद्धांत-व्यवहार भी है और व्यवहार सिद्धांत भी। सिद्धांत और व्यवहार की इस 'डाड़ा-मेड़ी' में ही साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास संबंधी प्रतिमान उभरकर सामने आते हैं। वे रचना से सिद्धांत निकाल लेते हैं और आलोचना का काम भी यही है कि वह रचना से सिद्धांत निकले।

देवीशंकर अवस्थी की व्यवहारिक आलोचना समकालीन पुस्तक समीक्षा में देखी जा सकती है। उन्होंने अपने समय की श्रेष्ठ कृतियों/संकलनों की समीक्षा की। समीक्षा के लिए चयनित कृतियों में विचारधारा कहीं आड़े नहीं आती। 'विवेक के रंग' पुस्तक रचनात्मक साहित्य से उनके जुड़ाव का उदाहरण है। वे मानते हैं कि समसामयिक रचनाशीलता को पुस्तक समीक्षा के बाड़े में छोड़कर आलोचना को अपना पल्ला नहीं झाड़ लेना चाहिए। आलोचना पद्धति के आरंभिक बदलाव पुस्तक समीक्षाओं में ही दिखायी पड़ते हैं। समसामयिकता से युक्त रचनाशीलता ही साहित्य जीवन की गति में आने वाले बदलावों का पहला प्रवक्ता होती है। अतः आलोचना को इसे ही लक्ष्य बनाना चाहिए। जिससे समीक्षा के नवीन प्रतिमानों का विकास हो सके। 'विवेक के रग' पुस्तक के नाम से ही पता चल जाता है कि उनकी व्यावहारिक आलोचना में विवेक का महत्त्व है। इस पुस्तक में विवेक के विविध रंग है जिसके बारे में स्वयं उन्होंने लिखा

कि - "इन समीक्षाओं में वे तमाम विचार सूत्र, आलोचना-पद्धतियों एवं प्रविधियाँ निहित हैं जो नए काव्यशास्त्र का निर्माण ही नहीं करती, समीक्षा के लिए नए औजार भी देती है।"[61] इसी तरह की उनकी दूसरी पुस्तक है- 'रचना और आलोचना'। जिसमें साहित्य की बुनियादी मान्यताओं की चर्चा के साथ, विभिन्न काव्यसंग्रह एवं उपन्यासों की समीक्षा भी संकलित है। पुस्तक समीक्षा में देवीशंकर अवस्थी कृति में जिस 'समग्रता' की चर्चा करते हैं, उसकी खोज इस पुस्तक में संग्रहित लेखों में विद्यमान है। उनकी यह मान्यता इस पुस्तक में व्यावहारिक हो उठी है कि - 'आलोचना का पहला दायित्व नवलेखन के प्रति ही है।'

देवीशंकर अवस्थी की व्यावहारिक आलोचना का क्षेत्र प्रमुख रूप से साहित्य में 'नयेपन' के दो आन्दोलनों-नई कविता और नई कहानी से जुड़ा है। उन्होंने नई कविता और नई कहानी आन्दोलन का समर्थन किया क्योंकि उनके लिए नयापन कोई शौक या 'प्रौपेगेण्डा' न होकर नया अनुभव तथा नई अन्तर्दृष्टि थी जो एकाएक किसी घटना की देन नहीं, सतत प्रक्रिया का परिणाम थी। 'नई' के संबंध में उन्होंने कहा भी कि - "नयापन निरर्थक होता है यदि वह अनुभवों की संकुलता में नई अन्तर्दृष्टि न प्रदान करे तथा वस्तुपरकता की एक नई प्रक्रिया को ही विकसित न करे।"[62] 'नई कविता' के साथ देवीशंकर अवस्थी के आलोचक का रिश्ता किसी आन्दोलनकारी जैसा नहीं था। वे नई कविता से जुड़े रहे - साहित्य में आने वाली नवीनता एवं नयेपन की पहचान के साथ। नये साहित्य के नयेपन को उन्होंने सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया से संबद्ध करके देखा है। अवस्थी जी मानते हैं कि विकास की द्वन्द्वात्मकता को समझे बगैर इस नएपन को नहीं समझा जा सकता। "सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से साहित्य में चित्रित मानव मूर्ति का रूप भी बदलता रहता है।"- देवीशंकर अवस्थी की यह विकासवादी मान्यता उनकी व्यावहारिक समीक्षा में दिखायी पड़ती है। उनकी द्वन्द्वात्मक दृष्टि का ही परिणाम रहा कि वे नई कविता को समूची हिन्दी साहित्य की विकास परंपरा में देख

---

61 'विवेक के रंग', देवीशंकर अवस्थी, पृ 5

62 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ 134

सके। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद हिन्दी कविता में जिस कविता को 'नई कविता' कहा गया उसके संबंध में अवस्थी जी का मानना है कि- "नई कविता में आकर वैयक्तिक एवं सामाजिक दायित्वों का संतुलन भी हमें मिलता है तथा मानवता की धारणा अधिक गहरी होती है। एक प्रकार की सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) गंध इस साहित्य में विशिष्ट रूप में उपलब्ध होने लगती है।"[63] नई कविता के संदर्भ में जिस 'सार्वदेशिक गंध' की चर्चा वे करते हैं वह उनकी व्यावहारिक समीक्षा में प्रतिमान बनकर आती है। भारतभूषण अग्रवाल के काव्य संकलन 'ओ अप्रस्तुत मन' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा- "हर घटना या समस्या का कारण अथवा औचित्य खोजने की अपेक्षा, एक किसी ऐसे मूल्य संदर्भ की खोज कलाकार के लिए अधिक आवश्यक है जिसकी कसौटी पर तमाम मंतव्यों, मान्यताओं एवं चरित्रों को परख सके यहीं यह भी ध्यान रखना है कि 'नई कविता का प्रतीक, एकांत रूप से समसामयिक जीवन का है।"[64]

कविता समीक्षा

भरतभूषण अग्रवाल नई कविता के कवि हैं। अवस्थी जी ने उनकी कविताओं के संकलन 'ओ अप्रस्तत मन' की समीक्षा 'ओ अप्रस्तुत मन भूमिका और संग्रह' नाम से किया है। जो 'रचना और आलोचना' में संकलित है। इसमें उन्होंने कविताओं के साथ कवि द्वारा दी गयी संग्रह की भूमिका पर भी विचार किया है। उनके लिए यह भूमिका कवि के कृतित्व एवं मनःस्थितियों को समझने में अत्याधिक सहायक हैं। इस भूमिका की महत्ता यह भी है कि "सप्तकों की भूमिकाओं के बाद यह इधर प्रकाशित संग्रहों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विवादास्पद भूमिका है, जिसमें कि आधुनिक जीवन और परिस्थितियों के मध्य काव्य-सृजन के प्रकार, कथ्य एवं भाषा पर बुनियादी प्रश्न उठाए गए हैं।"[65] अवस्थी जी भूमिका में जिस बुनियादी प्रश्न की खोज संभव बनाते हैं क्या वैसी खोज नई कविता के इस कवि की कविताओं में भी है? इस संबंध में 'विवेक के

---

63 वही, पृ.41
64 वही, पृ 65
65 'वही, पृ 60

रंग' में छपा अजित कुमार का लेख 'व्यथा का द्वीप' काफी कुछ कहता है। भारतभूषण अग्रवाल ने भूमिका में मध्यवर्गीय मन की दुःचिन्ता की दुहाई बार बार दी है और रचना के अधूरेपन के संबंध में बताया कि - "मेरी रचना अधूरी रचना है... और रचना अधूरी रह जाने के कारण मन भी अप्रस्तुत ही रह गया, वह आज भी कसौटी पर पड़ने को तैयार नहीं है।"[66] इस पर अजित कुमार की टिप्पणी है कि -

> *"श्री भारतभूषण की काव्य-चेतना का मूल स्रोत मुझे उनकी प्रेमजन्य अनुभूति में मिलता है न कि उनकी बहुकथित मध्यवर्गीयता में। यह बात दूसरी है कि अपने अधूरेपन या विभाजित व्यक्तित्व के लिए वे अपनी सामाजिक परिस्थिति को दोषी बनाना उचित समझें पर उनके कविता के किसी तटस्थ पाठक से यह बात छिपी न रहेगी कि उनकी सीमाओं और विवशताओं का कारण स्वयं उनके दुःखी, दर्द भरे मन में मौजूद था। वाह्य परिस्थितियों ने उस मन को थोड़ा और दुःखी, कटु, जटिल अथवा कातर बना दिया।*[67]

इन दोनों कवि-आलोचकों की टिप्पणीयों के बाद देवीशंकर अवस्थी की प्रतिक्रिया सचमुच एक सचेत पाठक की प्रतिक्रिया के रूप में आती है। जहाँ पर कवि की कमजोरियाँ छिपी नहीं रह पाती और उसके वैयक्तिक ईमानदारी के बावजूद प्रस्तुत होने का डर क्या है? अवस्थी जी उसकी पड़ताल करते हैं। वे प्रश्न करते हैं कवि से - "मेरे मन में एक शंका है कि जब अनुभूति के प्रति ईमानदार है आपका मन, तब फिर वह अप्रस्तुत क्यों? मुझे लगता है कि जिस मध्यवर्गीय मन की दुहाई कवि ने बार-बार दी है उसी की एक वृत्ति यह भी होती है कि कहीं अपना मुलम्मान उतर न जाए, इस कारण वह बाहर आने में अत्यधिक संकोच करता है।"[68] बहरहाल अवस्थी जी अपनी समीक्षा में प्रशंसात्मक भाव लेकर चलते हैं और इस संग्रह की कविताओं की भाव संवेदना को विस्तृत बताते हैं। संग्रह की बड़ी शक्ति व्यंग्य की क्षमता मानते हुए वे यह बताना नहीं भूलते कि वह नई कविता की एक विशेषता है। प्रेम संबंधों पर नई कविता

---

66 'वही, पृ 63

67 'विवेक के रंग' देवीशंकर अवस्थी में संकलित अजित कुमार का लेख', व्यथा का द्वीप, पृ 68

68 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ 62

में जब कम बात हो रही थी तो उनका यह कहना और कवि की प्रशंसा करना विचारणीय हो जाता है जबकि प्रेम निवेदन और नारी निरूपन से अलग नई कविता के ही संदर्भ में वे काव्य विषयों का अभाव मानते हुए क्रान्ति-प्रतिक्रान्ति जैसा स्वर भी सुनना चाहते हैं। जब मुक्तिबोध जैसा कवि आत्मसंघर्ष और सामाजिक जटिलता की बेड़ियों से पीड़ित जन की मुक्ति आकांक्षा से पूर्ण कविताएँ लिख रहा हो तो एक समर्थ आलोचक (जो कि मुक्तिबोध को बड़ा कवि मानता है) कि इस भावुकता के क्या करण थे? जो कि प्रणय निरूपण और नारी रूप चित्रण से भरे इस संग्रह की प्रशंसा इन शब्दों में करता है- "प्रस्तुत संग्रह में यदि एक ओर आधुनिक जीवन की निराशा, अनिश्चय, कटुता और संदेह को सफल अभिव्यक्ति मिली है, तो दूसरी ओर, अत्यंत नई और अनूठी, पर सहज प्रेमानुभूतियों को भी व्यंजना हुई है।"[69]

'रचना और आलोचना' पुस्तक में ही देवीशंकर अवस्थी धर्मवीर भारती के काव्य संग्रह 'सात गीत वर्ष' पर विचार करते है। धर्मवीर भारती भी नई कविता के कवि हैं। उनकी कविता में भी अजनबियत, अकेलापन, अस्तित्व का संकट और अतीत तथा भविष्य के मिथ्या पड़ जाते रूप का चित्रण है। नई कविता में उठा विकल्पों का द्वंद्व, 'शायद एक, सबका कोई नहीं, का संदेह और फिर कभी-कभी संदेहों से उठकर, कोई नया मूल्य, नया संदर्भ या अर्थ देने का प्रयास धर्मवीर भारती के इस संग्रह में दिखता है। अवस्थी जी ने अपने चिर परिचित अंदाज में भारती को एक बड़ा कवि बताते हुए काव्य संग्रह का एक अन्य स्वर स्पष्ट करते हैं जिसके द्वारा शब्दों में नए मूल्य, नए अर्थ भरने की कोशिश की गयी है। धर्मवीर भारती की कविता की पंक्तियों हैं-

"निंदियारी आँखों से

बार-बार देखने की कोशिश की-

देखा नहीं,

बौर-लदी नाजुक टहनी सी इस देह की

---

69 वही, पृ 66

हल्की गरमाई को केवल महसूस किया

जाना नहीं"[70]

इस पर देवीशंकर अवस्थी की टिप्पणी है - "महसूस करे और जाने नहीं यह सामान्य कवि द्वारा भावित अन्तर नहीं है। वास्तव में भारती की कविताओं का यही क्षेत्र है और यहाँ वह अद्वितीय है।"[71] धर्मवीर भारती नई कविता के विवादास्पद कवियों में से थे। उन पर एक आरोप था कि वे 'रोमांटिक हैंग ओवर' करते हैं। इसका जबाव देते हुए अवस्थी जी ने लिखा - "बहुधा उन पर लोग 'रोमांटिक हैंग ओवर' का आरोप लगाते हैं, पर मैं नहीं जानता कि छायावाद के किन कवियों में संवेदन के ये स्तर प्राप्त होते हैं।"[72]

नयी समीक्षा के सूत्रों का भारतीय संदर्भ में उपयोग देवीशंकर अवस्थी ने विवेकपूर्वक किया। कविताओं की समीक्षा में वे मात्र रचना की भाषा का विश्लेषण और सौंदर्य की परीक्षा ही नहीं करते बल्कि भाषा की सामाजिकता और सौंदर्य के संघर्ष की तलाश भी करते हैं। त्रिलोचन के 'दिगन्त' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा कि - "छंद के अनुकूल भाव न ढालना पड़े, यह नए कवि का सचेष्ट प्रयास है। पर यहीं त्रिलोचन की विशेषता उभरती है। शिल्प की दृष्टि से की उसने नयेपन की बलि सानेट की गठन के लिए नहीं दी।"[73] त्रिलोचन के इस काव्य संग्रह में 57 सानेट हैं। जिसमें भाषा की सहजता और उसका देसीपन कविता के वातावरण निर्माण तथा भाव संवेदना को प्रत्यक्ष करने वाला है। अँजोरिया, कांधे, छुटटा, सीवान जैसे शब्द इसके उदाहरण है। इसे नए काव्य की प्रमुख विशेषता 'लोकभाषा के शब्दों का ग्रहण' से जोड़कर देखा जा सकता है। देवीशंकर अवस्थी ने त्रिलोचन को काव्य की नई भूमि और नई शैली शिल्प अपनाने वालों में प्रमुख कवि मानते हैं और उन्हें नए कवियों की विशेषताओं के संदर्भ में ही मूल्याँकित भी करते हैं।

---

70 वही, पृ 72
71 वही
72 वही
73 वही, पृ 73

त्रिलोचन के सानेट श्रेष्ठ व्यंग्य के उदाहरण है। उनमें विषयवस्तु की विविधता भी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। देवीशंकर अवस्थी ने इसे यों रेखांकित किया -

"एक ओर मध्यवर्गीय जिंदगी है, जिसमें वही सबेरा, वही रात, तेली के बैल सरीखे फेरा लगता है (खीझ) तो दूसरी ओर 'भादो की रात का ध्वनिवादी चित्रण', 'मूर्तिपूजा', में पढ़े-लिखे का दुःख मूर्तित है। लाश के माध्यम से सामाजिक विकृतियों की ओर दृष्टिपात करता है तथा तेनजिंग और माओत्सेतुंग का वह गायक है। तुलसी बाबा से भाषा सीख ब्राह्मण को तुकारने वाले काशी के जुलाहे के प्रति वचन विचार कर भी कवि कहता है। चिंता और हास्य के छोटे-छोटे मूड़स और लंबे सड़क के यथातथ्यवादी चित्रण सभी कुछ तो त्रिलोचन की व्यापक प्रतिभा ने समेटा है।"[74]

त्रिलोचन जैसे जनकवि की पहचान का यह सही तरीका है। स्वयं को उस जनपद का कवि घोषित करने वाले त्रिलोचन जो की भूखा, नंगा है, अपनी कविताओं में प्रकृति का सहज रंग भी उकेरते चलते हैं इतना ही नहीं, हिन्दी की कविता जब नितांत बंधे-बंधाये बिम्ब और प्रतीक के द्वारा घसीटी जा रही हो, तब त्रिलोचन जैसा जन कवि ही इसमें पारिवारिक संबंधों की मार्मिकता और देशज बिम्बों, प्रतीकों के माध्यम से सहजता ला सकता है। नई कविता में जब परिवारिक चित्र दुर्लभ हो गए हों, और समाज तथा परिवार के विविध संबंध जैसे कवियों के भाव जगत से दूर पढ़े गए हों तो कविता में विषयों के अभाव पर चिंता व्यक्त करने वाले देवीशंकर अवस्थी के लिए त्रिलोचन का काव्य प्रिय लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

'दिगन्त' में संकलित सानेटो की विशेषताओं का उद्घाटन, तत्कालीन रचना संदर्भ में रखकर देवीशंकर अवस्थी ने लिखा - "जिस समय हिन्दी काव्य में दर्द की पुकार मची हो, दुःख में आत्मावेषण किया जा रहा हो, पीड़ा में आस्था के विविध आयामों का अनुसंधान हो रहा हो उस समय त्रिलोचन के अट्टहास का स्वर निश्चित

---

[74] वही, पृ 74

रूप से विशिष्ट लगता है।"[75] इतना ही नहीं अवस्थी जी त्रिलोचन की पारिवारिक भावजगत की कविताओं की प्रशंसा करते हैं। नयी कविता में त्रिलोचन इस रूप में भी विशिष्ट हो जाते हैं। देवीशंकर अवस्थी 'दिगन्त' संग्रह के 'भाभी' सानेट के बारे में लिखते हैं- "माँ, पिता, पत्नी, भाई, भाभी आदि संबंधों को अभिव्यक्त करना उसकी (नए कवि की) अभिजात्य स्नावरी के नितांत विपरीत है। हाँ तो 'भाभी' पढ़ते-पढ़ते मुझे इस रेगिस्तान में भी नखलिस्तान का अनुभव हुआ। लगा कि नया कवि अभी परिवार से बिल्कुल ही छिन्नमूल नहीं हुआ है।"[76]

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के लिए चुने गए आधार ग्रंथ 'रचना और आलोचना' में जिन दो अन्य काव्य संग्रहों की समीक्षा देवीशंकर अवस्थी ने की है उनमें से एक है - नरेश मेहता का 'वन पाखी सुनो' और दूसरा श्रीकांत वर्मा का 'भटक मेघ'। दोनों संकलन नई कविता के दौर के हैं अतः इन पर विचार करने से पहले अवस्थी जी नई कविता की भाव संपदा के निर्माणकारी प्रभावों पर बात करते हैं। वे मानते हैं कि 'नई कविता' प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का मिलन बिंदु है और इसकी भाव संपदा आज के युग की जटिलता के अनुरूप ही बहुमुखी है।

> *"हिन्दी में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्यधाराएँ बहुत कुछ समसामयिकी और समव्यक्तिजीवी रही हैं। पर इन धाराओं का युग देश के इतिहास का असाधारण युग था। अपेक्षाकृत दुराग्रह शांत हो एवं सुस्थिरता की प्रतिष्ठा हो जाने पर सन् 50-51 के पश्चात इन अतिवादी धाराओं का सम्मिलन उस काव्य की भावभूमि पर हुआ जिसे हम 'नई कविता' नाम से अब जानने लगे हैं।"*[77]

नई कविता की इन्हीं मान्यताओं को ध्यान में रखकर देवीशंकर अवस्थी इन दोनों काव्य संग्रहों पर बात करते हैं। समीक्षा में यद्यपि की प्रशंसा का भाव अधिक है तथापि काव्य संवेदना और कविता के रूप संबंधी विश्लेषण में कुछेक महत्त्वपूर्ण बातें

---

75 वही, पृ 75
76 वही
77 वही, पृ 77

निकलकर सामने आती है। काव्य में ध्वनि के महत्व तथा संक्षिप्तता को अनिवार्य गुण बताते हुए वे नरेश मेहता और श्रीकांत वर्मा के काव्य संगठन के फर्क को अलगाते हैं - "श्रीकांत वर्मा नरेश मेहता से एकदम भिन्न टेंपरामेंट के कवि हैं। नरेश में कथ्य को संपुजित रूप से उपस्थित करने का अनुशासन है, जबकि श्रीकांत में एक बहाव, फैलाव और तेजी है जो कि रिटारिक कवि की विशेषता होती है। इस बहाव में जिस समय अनुभूति और आवेग संयुक्त हो जाते हैं उस समय वह चमक उठती है- जैसे 'बूढ़ा पुत्र' या 'मणिसर्प'"।[78] ये दोनों कविताएँ 'भटका मेघ' में संकलित हैं। इस संकलन की कविताओं में कवि अपने परिवेश से आत्मीय संबंध स्थापित करता है और उन्हें तोड़कर ऊपर उठने की सामर्थ्य भी दिखलाता है। भाव के स्तर पर ये दोनों विशेषताएँ प्रयोगवाद से नितान्त भिन्न है।

'भटका मेघ' की भूमिका में श्रीकांत वर्मा द्वारा उठाया प्रश्न कि 'आज की जीवंत कविता में कौन सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन से हैं? पर अवस्थी जी ने लिखा- "श्रीकांत वर्मा की कविता इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिए आगे बढती है। ...इसका व्यक्तित्व उस मेघ का है जो अलका की ओर नहीं प्यासे खेतों की ओर जा रहा है। जिसका इतिहास बोध सदियों को मनुष्य की आँखों में घुलते हुए देख चुका है। नई कविता की एक अन्य विशेषता बिम्ब निर्माण क्षमता है। श्रीकांत वर्मा की इन कविताओं में बिम्ब क्रियाशील और केन्द्रगामी है।"[79] 'भटका मेघ' श्रीकांत वर्मा का पहला काव्य संग्रह है। इसके पढ़ने के बाद पाठक को इन कविताओं की अनगढ़ता खटकती है लेकिन अवस्थी जी का निष्कर्ष है कि - "आद्यंत जो बात पाठक को निरंतर प्रभावित करती रहती है वह है कविता की शक्ति संपन्नता। रोमांटिक कवि की भावोच्छलता न होकर, क्लासिक कवि का सा सान्द्र स्वर है उनका, जिसमें कि अभी अल्पवयस्क व्यक्ति की जल्दबाजी और तेजी भी मिश्रित है।"[80]

---

78 वही, पृ 83
79 वही
80 वही, पृ 84

'वन पाखी सुनों' के संदर्भ में वे नरेश मेहता को संवेगों के क्षेत्र का बडा कवि घोषित करते हैं। "गंध का जितना तीव्र अनुभव उन्हें है, उतना औरों को नहीं गंध का बोध उनकी अपेक्षाकृत गहरी संवेदना का द्योतक है।"[81] नए कवियों द्वारा आत्मसमर्पण तथा संकुचित भाव से ऊपर उठकर परिस्थिति के मध्य अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की विशेषता इस काव्य-संग्रह की कविताओं में दिखायी पड़ती है। देवीशंकर अवस्थी नरेश मेहता के इस काव्य-संग्रह की कविताओं में जिस प्रभाव को प्रथम दृष्टया पकड़ते हैं वह है- नरेश मेहता की कविताओं में निहित अनुभव की सहज ऋजुता। उन्होंने लिखा - 'वन पाखी सुनो!' संग्रह पढ़ने पर जो पहला प्रभाव मन पर पडता है, वह अनुभूति की सहज ऋजुता का है। इस ऋजुता को नरेश ने बिल्कुल अपने रूपकों और उपमानों से उदात्त एवं रंगीन बना दिया है।"[82]

नरेश मेहता की कविताओं में अनास्था, निराशा के बीच देवीशंकर अवस्थी नए कवि की शक्ति की खोज करते हैं वे मानते हैं कि इन कविताओं में कुछ और न हो 'अब भी हममें प्रश्न शेष हैं' कि जिज्ञासा और बौद्धिकता तथा 'हमारे मन का संशयदर्प और विद्रोह वही है' के द्वारा व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा है।ये वे शक्तिस्रोत हैं जिनसे नए कवि जिन्दगी के प्रति ईमानदारी और आस्था ग्रहण कर रहे हैं। अवस्थी जी नए कवि की अभिव्यंजना की समस्या से परिचित हैं। वे इस स्तर पर नरेश मेहता की अभिव्यंजना क्षमता की प्रशंसा करते हैं - "नरेश ने अनेक कोणों से इस समस्या पर आक्रमण किया है। नए शब्द, नई टोन, बोलियों और विभाषाओं के विविध प्रयोग और संगीत, प्राचीन रूपकों एवं उपमाओं का सान्निवेश उन्होंने अपनी अभिव्यंजना प्रणाली में किया हैं। एक ओर ऐसे विराट प्रकृति चित्र हैं जो एक साथ प्राचीन काव्य लोक की अभ्यस्त प्रतिक्रिया के साथ उनके नवीन संदर्भ में हुए संगठन का आनंद देते हैं।"[83] नरेश मेहता का पूरा काव्य-चित्र और संगीत की बहुलता का काव्य है। हालाँकि इस चक्कर में कभी-कभी कवि अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति के चकाचौंध का भी शिकार

---

81 वही, पृ 82
82 वही, पृ 79
83 वही, पृ 80

हुआ है। कवि की इस तरह की गड़बडी जिसमें भाषा के शब्द ओर उनके अर्थों की नवीन गढ़न पेश की गयी है, कवि को रूपवाद की तरफ ले जाती है। समर्थ आलोचना कवि की रचना प्रक्रिया को समझती है और उसके विविध स्तरों की जाँच वह अन्तर्वस्तु एवं रूप दोनों के सामंजस्य में करती है। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि कवि/लेखक की सफलता वस्तु को सही ढंग से रूपायित कर देने में है। नरेश मेहता के इस रूपवादी रूझान को भी उनकी आलोचना दृष्टि पकडती है - "नरेश में शब्दों, दृश्यों एवं अभिव्यंजना के चमत्कार के प्रति एक अतिरिक्त मोह है, जो उन्हें रूपवादी बना देता है कभी-कभी।"[84]

उपन्यास समीक्षा

देवीशंकर अवस्थी आलोचना में 'साहित्यिक सौंदर्य' की खोज करते हैं। वे कृति की आन्तरिक-संगति में रचनाकार की कला-दृष्टि की परख करते हैं। आतंरिक-संगति में समग्रता की पहचान के लिए रचना के संदर्भ का ज्ञान जरूरी होता है। आलोचना का यह प्रमुख दायित्व भी है कि वह रचना को संदर्भ प्रदान करे। अवस्थी जी की व्यावहारिक समीक्षा में इस संदर्भ की कहीं भी उपेक्षा नहीं हुई है - भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा करते हुए वे दो-तीन पृष्ठों में रचनाकार और रचना की पारिस्थितिक जटिलता और युग की विशेषता की जाँच करते चलते हैं। कृति-केन्द्रित आलोचना को केवल संरचनावादिओं की तरह वे नहीं परिभाषित करते बल्कि समूचे जीवन-जगत के उस चित्र की व्याख्या करते हैं जो रचना में फलीभूत हो उठा है। देवीशंकर अवस्थी ने 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा के प्रारंभ में ही हेनरी बाल्जाक और फ्रेंज काफ्का के हवाले से स्पष्ट किया कि ये दोनों रचनाकार उपन्यास को एक ऐसा सोंटा मानते थे जिससे अपने युग की हर अशुचि, रूढ़ि और विकृति को तोड़ा जा सके। उपन्यास आधुनिक कथारूप है और उसका यही लक्ष्य देवीशंकर अवस्थी भी मानते हैं। हिन्दी उपन्यास अपने प्रारंभ काल, (भारतेन्दु काल) से ही इस

---

[84] वही, पृ 82

लक्ष्य को लेकर चला है। लेकिन सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि के अभाव के कारण उसका वैसा प्रभाव नहीं पडा जैसा कि प्रेमचंद के उपन्यासों का।

नई कहानी आंदोलन से लेकर उसके बाद तक यथार्थ को देखने की कसौटी प्रेमचंद के उपन्यासों पर बनायी जा रही थी। कुछ आलोचकों ने यथार्थ के प्रति बनते इस 'कामनसेंस' को तोड़ने का प्रयास किया (जैसा कि नामवर सिंह ने 'कहानी-नई कहानी' में) लेकिन ज्यादातर लेखक उसी कसौटी को यथार्थ का पैमाना बनाते हैं। देवीशंकर अवस्थी भी ऐसे ही आलोचक है। यही कारण है कि पात्रों एवं स्थितियों की स्वाभाविक विकास की कमी जो उन्हें प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों में दिखी, वह तो उन्हें प्रेमचंद के द्वारा पूरी होती नजर आती ही है। वे भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' की भाषा, कथानक गठन और पात्रों के वर्गगत चरित्रों के चित्रण की सफलता की तुलना बराबर प्रेमचंद से करते चलते हैं। प्रेमचंद की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि तथा उपन्यास कला का उल्लेख करते हुए अवस्थी जी ने लिखा कि -

'प्रेमचंद की वास्तविक खोज समस्याओं के समाधान की नहीं है (वह ऊपरी और आरोपित है - इसलिए अकलात्मक भी) बल्कि उपन्यास के लिए चरित्र, परिस्थिति, गठन एवं इन सबसे ऊपर एक उपयुक्त भाषा की खोज है। गहरी यथार्थ दृष्टि, व्यापक मानवीय संवेदना, किस्सागों की आत्मीयता एवं भाषा का अत्यंत सृजनात्मक प्रयोग प्रेमचंद की विशिष्ट क्षमताएँ हैं। उनके उपन्यास वैयक्तिक संवेदना एवं सामाजिक इतिहास के मिलन बिंदु ही नहीं है, चौराहे भी है।'[85]

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा में भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचंद और फिर उन समकालीन स्थितियों तथा स्थितियों से उपजी साहित्यिक प्रवृत्तियों का जिक्र देवीशंकर अवस्थी 'तीसी की पीढी' की जटिल मनः स्थितियों के मध्य करते हैं - उनके अनुसार उस परिस्थिति में रचनाकारों की जो कठिनाईयाँ थीं उनमें "एक ओर उनके भीतर मध्यवर्ग का व्याक्तिवादी स्वच्छंदतावादी दर्शन था और दूसरी ओर प्रत्यक्ष जीवन में (चाहे प्रेम का क्षेत्र हो या राजनीति का) निरंतर असफलता

---

[85] वही, पृ 88

का अनुभव हो रहा था। इनका क्षुब्ध अहं घूम-फिरकर परिस्थितियों को दोष दे रहा था। नवीन विचारों के आलोक में नीति, अनीति, पाप-पुण्य, प्रेम- वासना को भी ये लेखक पुनः विवेचित कर लेना चाहते थे।"[86] यही वह संदर्भ है जहाँ से भगवतीचरण वर्मा का रचनाकार जन्म लेता है। देवीशंकर अवस्थी इस बात को उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' के विश्लेषण में कहीं भूलते नहीं है। उपन्यास परिवार केन्द्रित है। एक ही परिवार की चार पीढियों की कथा का विस्तार कालिक रूप में 1850 से 1930-31 तक विस्तृत है। यह उपन्यास 1959 में छपा। इसमें पारिवारिक कथा के सहारे समाज की राजनैतिक -आर्थिक घटनाओं का उद्‌घाटन हुआ है। उपन्यास में रौलेट ऍक्ट, असहयोग आन्दोलन, चौरी -चौरा कांड, सांप्रदायिक झगड़े, हडताल, डांडी यात्रा, नमक सत्याग्रह आदि सभी आते हैं। कथा के विविध स्तरों को पकड़ने में लेखक की सफलता लम्बे कथा काल को एकसूत्रता में जोड़ने की है। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि ज्वालाप्रसाद जैसा पात्र ही उपन्यास का मेरुदण्ड है जो उपन्यास के सभी कथा स्तरों को जोड़ता है। भगवतीचरण वर्मा की इस कलात्मक क्षमता और समाजोन्मुखता की विशेषता की पहचान वे इन शब्दों में करते हैं- "अपनी पीढ़ी के समसामयिक उपन्यासकारों के मध्य भगवती बाबू एक अर्थ में 'नितांत विशिष्ट' हैं कि जब जैनेन्द्र या इलाचन्द्र जोशी अधिकाधिक व्यक्तिमन के विश्लेषण में लगे थे। तब भी वे सामाजिक यथार्थ से संलग्न रहे। उनके चित्रण का कैनवास प्रेमचंद जैसा व्यापक तो नहीं, पर मध्यवर्ग के विविध संबंधों के तनावों और क्रिया -प्रतिक्रियाओं के बीच ही अपने पात्रों एवं समस्याओं को उन्होंने उभारा है। उनके उपन्यासों का मूल ढाँचा बहुधा परिवार केन्द्रित हैं। इस संदर्भ में वह प्रेमचंद की परंपरा के अपेक्षाकृत अधिक निकट रहे।"[87]

भगवती बाबू को प्रेमचंद की परंपरा में शामिल करने के मोह के चलते उपन्यास के विश्लेषण में देवीशंकर अवस्थी सार्थक मानवीय संदर्भ की क्षीणता, संयम और कलात्मक बोध की कुछेक कमियों को पकड़ने में चूक जाते है। दरअसल यह हिन्दी

---

86 वही

87 वही, पृ 90

आलोचना के उस दौर की समस्या है। जिसमें प्रेमचंद को मानक बनाकर आलोचकों ने कई महत्वपूर्ण कृतियों को घटिया बताया। रामविलास शर्मा जैसे आलोचक इसके उदाहरण हैं, जो प्रेमचंद की परंपरा में नहीं अँट पायी फणीश्वर नाथ रेणु की आंचलिकता को 'प्रकृतवाद' से जोडकर 'मैला आंचल' को घटिया उपन्यास घोषित कर देते हैं। बहरहाल देवीशंकर अवस्थी ने ऐसा नहीं किया है। वे 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास को 'महाकाय' और 'पीरियड नावेल' की संज्ञा देते हैं। समस्याओं की चार कोटियों को उपन्यास के आधार के रूप में चुनते हुए उन्होंने लिखा-

"संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन, मध्यवर्ग का उदय, सामंतवाद की पूंजीवाद द्वारा पराजय तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का विकास ये चार आधार बिन्दु है जिन पर कि संम्पूर्ण कथानक का ढाँचा खड़ा होता है।"[88] अवस्थी जी इन चारों स्थितियों का संदर्भ 1930 के मध्यवर्ग की जटिल परिस्थिति से जोड़कर देखते हैं।

'भूले-बिसरे चित्र' के गठन पर बात करते हुए अवस्थी जी सर्वप्रथम कथा कहने के दृष्टिकोण पर ध्यान देते हैं। यह मानकर कि जिस जीवन प्रक्रिया को लेखक अपने चित्रण का विषय बनाता है, उसके लिए वस्तुगत तटस्थता आवश्यक है - वे भूल-बिसरे चित्र में लेखक द्वारा कथा को तटस्थ दृष्टा के बिंदु से कहे जाने की सराहना करते हैं। उपन्यास के पात्र वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके वातावरण के चित्रण में भगवतीचरण वर्मा सफल हुए हैं। देवीशंकर अवस्थी यह मानते हैं कि 'आकस्मिक संयोगों के सहारे कथा को आगे बढ़ाने' के चलते 'पात्रों में पर्याप्त गहराई एवं बहुलता की कमी' रह गयी है। जिसके परिणाम स्वरूप कथा की एकसूत्रता में कहीं-कहीं बाधा आयी है और उपन्यास विखरता सा लगता है। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि विस्तृत देश काल में फैले सामाजिक जीवन के चित्रण का उद्देश्य ही इस निर्बलता के लिए उत्तरदायी है। इस तरह 'भूले -बिसरे चित्र' को एक सफल कृति घोषित करते हैं।

जिस 'भूले-बिसरे चित्र' की कुछेक कमियों को जानते हुए देवीशंकर अवस्थी 'सफल कृति' घोषित करते हैं। उसी को 'अधूरी रचना' बताते हुए नेमिचन्द जैन ने

---

88 वही, पृ 11

रेखांकित किया है कि इस उपन्यास में 'भूले-बिसरे चित्रों की समग्रता' नहीं स्थापित हो पायी है। धटनाओं में असम्बद्धता कमजोर पक्ष है फिर भी इस उपन्यास की सफलता यह है कि - "इसमें भारतीय जीवन के विशेषकर उत्तर भारत के नागरिक और देहाती जीवन के, बहुमुखी और बहुरंगी चित्र की परिकल्पना प्रस्तुत है, और उसे काल और मानसिक जीवन, दोनों आयामों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।"[89] देवीशंकर अवस्थी ने 'भूले-बिसरे चित्र' की समीक्षा प्रशंसात्मक भाव से की है। उन्होंने प्रारंभ में द्वन्द्वात्मक स्थितियों के बीच साहित्य की रचनाशीलता की जो पहचान की वह उल्लेखनीय है, पर कला दृष्टि की खोज में उनकी भावुक विचार प्रणाली उपन्यास के कथानक संगठन, चरित्र योजना तथा पात्रों के विकास को संतुलित रूप से व्याख्यायित नहीं कर सकी है।

देवीशंकर अवस्थी, अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' पर भी विचार करते हैं। 'बूंद और समुद्र' पर नेमिचन्द जैन का विचार है कि - "बूँद और समुद्र' में बूँद और समुद्र के, व्यक्ति और समूह के स्वरूप, परस्पर संबंध सहयोग और संघर्ष को खोजने और समझने का प्रयास है। सत्य मूलतः द्वन्द्व मूलक है; जीवन को उसकी द्वन्द्वात्मकता में पहचाने बिना नहीं समझा जा सकता। यह द्वन्द्व जिस प्रकार व्यक्ति और समूह के बीच है, उसी प्रकार स्वयं व्यक्ति के भीतर भी है और ईकाई रूप में स्वयं समाज के भीतर भी है। और साथ ही ये द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति और समूह स्थिर नहीं है, निरंतर गतिमान हैं, परिवर्तनशील है।"[90] देवीशंकर अवस्थी इस उपन्यास के दो पात्रों सज्जन और कर्नल की बातचीत में उपन्यास रचना के मूल बिन्दु को ढूढ़ते हैं - कर्नल ने सज्जन से कहा कि "दरअसल कैरेक्टर्स तो यहाँ गली-मुहल्लों में हैं। जीवन की विभिन्नता तो यही देखने को मिलती है।"[91] 'बूँद और समुद्र' की चर्चा वे ऐसे उपन्यास के रूप में करते हैं जिनके पीछे लेखक के व्यक्तित्व की समग्रता निहित होती है। लेखक के व्यक्तित्व की समग्रता का अर्थ उसकी जीवन दृष्टि और कला दृष्टि की

---

89 'अधूरे साक्षात्कार', नेमिचन्द जैन, पृ 82

90 वही, पृ 64

91 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ 97

समग्रता की खोज है जिसके माध्यम से वह यथार्थ का चयन करता है और उसके लिए कलात्मक पैटर्न का चुनाव करता है। अमृतलाल नागर के यथार्थ बोध और कथा चयन के संबंध में अवस्थी जी ने लिखा - "लेखक ने चयन नहीं किया, बटोरा है।"[92] इस चयन और बटोरने का अन्तर यह है कि चयन में कुछ छोड़ दिया जाता है, लेकिन बटोरने में सब आ जाता है। जाहिर है गलित और मलीन हिस्सा भी। यह जीवन जो उपन्यास में आया है। उपन्यास के लेखक अमृतलाल नागर ने उसे 'मध्यवर्गीय नागरिक जीवन' कहा। लेकिन देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि एक प्रकार से समस्त नागरिक समाज उपन्यास में मूर्तित हो उठा है। यहाँ चारित्रिक वैविध्य, महत्ता और नीचता, जहनियत और जहालत सभी कुछ तो आ गया है। इस समग्र यथार्थ को रूढ़िगत तत्वों के आधार पर नहीं विश्लेषित किया जा सकता है। अवस्थी जी मानते हैं कि यह व्यापक यथार्थ अपना नया रूप स्वयं ढूंढ लेता है। अतः उसको रूढ़ि के बजाय खुली दृष्टि से देखे जाने की जरूरत है। 'बूँद और समुद्र' के कथा-विन्यास को अत्याधिक शिथिल मानते हुए देवीशंकर अवस्थी ने कथा-सूत्रों की गठन शैली की चर्चा इन शब्दों में करते हैं -

> *"कहानी, नाटक और दर्जनों रेखाचित्र ही नहीं है, निबंध, आलोचना, इतिहास और पुराण की नवीन शोधें तथा व्याख्याएँ भी उपस्थित हैं। अखबार की कटिंग, सिद्धांत कथन, व्यंग्य और परिहास परम्परा की उपलब्धता और अभाव सभी बूँदें बनकर इस समुद्र में समाई हुई है।"*[93]

किसी रचनाकार के शिल्प कौशल का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष होता है कि वह कहाँ तक वस्तु और पात्रों को एक सूत्र में अनुस्यूत कर सका है। इस कार्य में अमृतलाल नागर इस उपन्यास में दूर तक सफल होते है। देवीशंकर अवस्थी उपन्यास का सबसे सफल चरित्र 'ताई' का बताते हैं जो कि उपन्यास की कथावस्तु में गहन भाव से अनुस्यूत है। 'ताई' के चरित्र के महत्त्व का आंकलन करते हुए वे लिखते हैं।

---

92 वही

93 वही, पृ 98

'ताई' हमारे उपन्यास साहित्य का अविस्मरणीय पात्र है। जादू -टोने और मारण मंत्रों वाली ताई के बिल्ली के बच्चे तारा की प्रसव पीड़ा के समय की उनकी सेवा, सज्जन और कन्या के प्रति उनका ममत्व सब अद्‌भुत है।"[94] उपन्यास का एक अन्य पात्र महिपाल है जो अवस्थी जी के अनुसार वस्तु चरित्र के संगठन की कसौटी पर पूरा नहीं उतर पाया है। उपन्यास के कथानक संवाद आदि की प्रशंसा करते हुए वे अमृतलाल नागर के व्यक्तिवादी रूझान को नहीं भूलते हैं। नागर जी के व्यक्तिवाद का ही प्रभाव रहा कि 'बूंद और समुद्र' के विचार-खंड ऊपर से चिपकाये जैसे लगते हैं। और संवादों के साथ कथावस्तु का विकास भी वैयक्तिक निबंध शैली का हो गया है। यह उपन्यास को कमजोर बना देती है। उन्होंने लिखा -

> *"इस विच्छिन्नता का मूल कारण मेरे विचार से उनका व्यक्तिवादी मनन है। वह बूंद में समुद्र को देखता है पर समुद्र में जो बूंदे समाई हुई हैं उस समग्रता के प्रति सहज दृष्टि अनायास ढंग से नहीं जाती। बीच-बीच में लेखक सामाजिकता का आभास देता है, अपने व्यक्तिवाद को समाजोन्मुख भी करता है, पर विसर्जित नहीं कर पाता।"*[95]

उपन्यास की भाषा की प्रशंसा करते हुए अवस्थी जी ने भाषा की सरलता, सहजता था भाव संप्रेषण की क्षमता की तुलना प्रेमचंद से की है। नागर जी का यह उपन्यास लखनऊ शहर के चौक इलाके की कथा को समेटता है पर उसका स्वरूप आंचलिक नहीं है। न ही भाषा आंचलिक है। आंचलिक बोध और आंचलिक भाषा से 'बूंद और समुद्र' की भाषा के अलगाव को व्यक्त करते हुए देवीशंकर अवस्थी ने स्पष्ट किया कि "मैला आंचल' के लेखक की भाषा मिथिला के गाँव की विशिष्ट बोली है। पर 'बूँद और समुद्र' के लेखक की भाषा वह है जो नगरों के पारस्परिक संपर्कों और सम्मिलनों में 'कॉस्मोपॉलिटन' बन गयी है।"[96] भाषा के विविध स्तर हैं और लेखक ने उनकी ग्रहणशीलता को पकडने में अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। 'बूंद और

---

94 वही, पृ 99
95 वही, पृ 100
96 वही

समुद्र' में एक ही कैनवास पर बहुरंगी जीवन के चित्र' उभारने की लेखकीय क्षमता की प्रशंसा करते हुए अवस्थी जी का निर्णायक मत है कि - "बूँद और समुद्र' हिन्दी उपन्यासों की गौरवमयी माला का बहुमूल्य मनका है।"[97]

'बूंदे और समुद्र' में व्यक्ति और समाज की प्रतीक शक्ति की पहचान देवीशंकर अवस्थी ने अपनी जिस विवेक सम्मत आलोचना दृष्टि से की है। उसका अधिक विस्तृत एवं संघन रूप हमें उनके द्वारा समीक्षित एक अन्य उपन्यास 'सती मैया का चौरा' की समीक्षा ने दिखायी पड़ता है। भैरव प्रसाद गुप्त के इस उपन्यास की समूची समीक्षा में अवस्थी जी ने प्रतीक शक्ति का सवाल उठाया है। साहित्य की साहित्यिकता और कला की कलात्मकता उसकी सटीक प्रतीक योजना पर ही तय होती है। उपन्यास हो अथवा कहानी, इन सबमें प्रतीक की शक्ति ही कृति को नया अर्थ विस्तार देती है। ये प्रतीक चाहे पात्र, घटनाएँ, परिस्थितियाँ आदि कुछ भी हों, लेकिन जीवन के सामान्य प्रतीकों से अलग होते हैं। अवस्थी जी ने सामान्य प्रतीक और साहित्यिक प्रतीकों का अन्तर कुछ इस प्रकार बताया-

> *"बहुधा प्रतीक के द्वारा हम अन्य किसी वस्तु को संबोधित करते हैं, अथवा किसी बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। नाना प्रकार के बैज, ट्रेडमार्क, नारे, फार्मूले-प्रतीक ही हैं। ऐसे ही अज्ञात, अनस्थिर, अरूप को ज्ञात, स्थिर और रूप देने वाले ये प्रतीक होते हैं। परंतु ये प्रतीक जिसके होते हैं उसके महत्व को नहीं बढ़ाते। जबकि साहित्यिक प्रतीक जो कुछ कहा गया है, उसके महत्व को इस प्रकार बढ़ाते हैं कि उस अभिव्यंजना के माध्यम से कथ्य में एक नई अंतर्दृष्टि प्राप्त होने लगती है।"*[98]

'सती मैया का चौरा' उपन्यास में एक गाँव की कहानी है। एक गांव की कथा होकर भी यह आंचलिक नहीं। इसीलिए इसमें आचंलिक भाषा की विशिष्टता नहीं है। कथा में सामान्य व्यापक स्तर की भाषा को उपस्थित किया गया है। यह एक ऐसी

---

97 वही, पृ 101

98 वही, पृ 104

भाषा है जो ग्रामीण जन को नागर जन से जोड़ने वाली हैं। भाषा की समर्थ शक्ति समूचे ग्रामीण भारत की दशा को व्यक्त करती है आखिरकार भाषा तो एक सामाजिक निधि है।

अपने वस्तु की विस्तृत आयाम के साथ 'सती मैया का चौरा' उपन्यास में एक गांव ही नहीं बल्कि ग्रामीण भारत के सामंती मूल्यों एवं व्यवस्थाओं के विघटन तथा उभरते पूंजीवाद की प्रगतिशील शक्ति से लेकर पूंजीवाद की पतनोन्मुख वृत्तियों तथा नए जीवन मूल्यों को उभारने का चित्र उपस्थित किया गया है। लेखक की साहित्यिकता और कलाक्षमता की पूरी कसौटी उसकी प्रतीक योजना की सफलता को मानकर देवीशंकर अवस्थी उपन्यास में 'कला-दृष्टि' की खोज करते हैं। देवीशंकर अवस्थी की 'कला-दृष्टि' की खोज में उपन्यास लेखक की मानवीय परिस्थितियों की पहचान की परीक्षा तो है ही, उपन्यास से मानव नियति के प्रति उभरी अन्तर्दृष्टि को भी पहचानने की कोशिश है। दोनों स्थितियाँ मिलकर ही साहित्य में प्रतीक शक्ति की पूर्णता को समृद्ध करती हैं।

> *"'सती मैया का चौरा' शीर्षक स्वयं एक प्रतीक है। अपने अभिधार्थ में यह एक धार्मिक (और अतीतकाल की सामाजिक) स्थिति का द्योतक बन जाता है, जो सांप्रदायिक रूप में निहित स्वार्थों के द्वारा खडा कर दिया जाता है और फिर जनशक्ति जाग्रत होकर सती मैया के चौरे के अनावश्यक बाद में बढ़ाए गए अंश को खोदकर मानो सांप्रदायिकता और धार्मिकता के स्वार्थवश स्फीत स्वरूप की भी जड़े खोद देती है"।*[99]

उपन्यास में तीन पीढ़ियों की कथा है अतः उसकी एकसूत्रता बनाए रखने के लिए लेखक ने जिन अनेक कथा, विधियों का सहारा लिया है। उनमें सामान्य वर्णनात्मक, नाटकीय संवादत्मकता, फ्लैश बैक पद्धति, स्मृत्यात्मक आवेग और चेतना प्रवाह की प्रणालियाँ प्रमुख हैं। उपन्यास के सारे उपादानों एवं कौशलों का उपयोग प्रतीक शक्ति की समृद्धि के लिए होना चाहिए - ऐसा मानकर देवीशंकर अवस्थी,

---

[99] वही

उपन्यास लेखक भैरव प्रसाद गुप्त की निर्बलता की ओर भी संकेत करते हैं। "उपन्यास के सारे उपादानों एवं कौशलों का उपयोग इस प्रतीक शक्ति की समृद्धि के लिए होना चाहिए। भैरव प्रसाद गुप्त की निर्बलता यहीं पर उभरती है। वह कथा के समस्त कोणों एवं शिल्प को अपने अभिप्राय के लिए प्रयुक्त नहीं करा सके। नमूना और बसमतिया के इश्क प्रसंग, कालेज की डिबेट (अपने आप में यह घटना चाहे जितनी महत्वपूर्ण हो, पर प्रस्तुत प्रसंग में वह हमरे अर्थ को कोई शक्ति प्रतीत नहीं होती)।"[100]

कथावस्तु के चयन और उसमें निहित यथार्थ की द्वन्द्वात्मक समझ ही शिल्प को भी यथार्थवादी बनाती है। कला के सौंदर्यपरक मूल्य इसी यथार्थ की उपज होते हैं। अतः उपन्यास जैसे कलारूप में प्रतीकों की व्यंजना भावों की समूची व्याख्या करे तभी वे सार्थक होते हैं और उपन्यासकार की सफलता भी इसी में है। कथा चाहे वर्तमान की हो अथवा इतिहास की, उपन्यास का पाठक इस बात को नहीं जानना चाहता कि सही घटना और तिथि क्या है। वह तो चित्रित यथार्थ की भावसंवेदना तथा उसमें निहित चेतना के प्रवाह को जानना चाहता है। देवीशंकर अवस्थी ने इसी बिन्दु को आधार बनाकर उपन्यासों की समीक्षा की है।

ऐतिहासिक कथावस्तु को रचना में लाना और उसकी समकालीनता की व्याख्या करना देवीशंकर अवस्थी की दृष्टि में बुरा काम नहीं है। लेकिन इस कार्य में उपन्यास लेखक की सचेतनता बहुत जरूरी है (ऐतिहासिक तथ्यों एवं साहित्यिक मूल्यों दोनों के प्रति)। कला की समग्रता सही रुप में तभी उभर सकती है जब लेखक को वातावरण की समझ हो (ऐतिहासिक वातावरण तथा अपने समकालीन वातावरण दोनों की)। इसी समझ के आधार पर ही विभिन्न काल की चेतना प्रवाह को जोड़ने में वह सफल हो सकता है। 'ऐतिहासिक उपन्यास' के संबंध में उन्होंने लिखा कि - "यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐतिहासिक उपन्यास की सबसे बडी शक्ति वातावरण की स्थापना में ही है। वातावरण से मेरा तात्पर्य बाहरी ही नहीं आन्तरिक मन्तव्यों से भी है तथा आंतरिक मन्तव्यों तक पहुँचना तभी संभव है जब समाज की द्वंद्वात्मक गति का

---

[100] वही, पृ 105

वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध स्तरों की आंतरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे।"[101] अपनी इसी मान्यता के आधार उन्होंने कई ऐतिहासिक उपन्यासों की समीक्षा की। इन्हीं में से एक है- हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित उपन्यास - 'चारूचंद्रलेख'।

'चारुचन्द्रलेख' हजारीप्रसाद द्विवेदी का ऐतहासिक उपन्यास है। देवीशंकर अवस्थी ने इस उपन्यास पर समीक्षा लिखी, जिसका शीर्षक है - 'चारुचन्द्रलेख : एक टूटा दर्पण'। समीक्षा के अन्त में जो निष्कर्ष है वह यह है कि प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यथार्थ के प्रति सही शिल्प का विकास नहीं कर पाये हैं। उनकी इतिहास-दृष्टि और कथा कल्पना के बावजूद उनके निबंध छाप शिल्प ने उपन्यास को क्षत किया है। निबंध की शैली में लिखा गया उपन्यास कथानक की समग्रता को स्पष्ट नहीं कर पाता है। देवीशंकर अवस्थी साहित्य और कला के मूल्याँकन में जिस समग्र प्रभाव की बात करते हैं वह उन्हें यहाँ नहीं मिलती, अतः उन्होंने लिखा - "निबंध छाप शिल्प ने लेखक की परिकल्पना को क्षत किया है। जो कुछ उभरता है वह है एक टूटा हुआ दर्पण, जिस पर पड़ने वाला प्रतिबिंब समग्र नहीं होता - आकृतियाँ भले ही हजार हो जाएँ।"[102] उपन्यास में इतिहास वर्तमान और भविष्य तीनों की संगति बिठायी गयी है। और इस अर्थ में इसकी कथा 'त्रिकालव्यापिनी' हो उठी है। कथासूत्र में विविध 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' की खोज करने वाले अवस्थी जी मानते हैं कि यह खोज वस्तुतः शिल्प की खोज है। जबकि द्विवेदी जी मानते हैं कि महान भाव या विचार का महान होना जरूरी है। शेष सभी चीजें गौंण हैं। अपनी इसी विचार दृष्टि के चलते आचार्य द्विवेदी कथा सामग्री से स्वयं को अलग न कर सके और यही कारण रहा कि प्रस्तुत अध्याय में शिल्प के माध्यम से कथा सामग्री का विश्लेषण और विवेचन न हो सका।

---

101 'आलोचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ 66

102 'रचना और आलोचना', देवीशंकर अवस्थी, पृ 118

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस उपन्यास में ऐतिहासिक खोजों से प्राप्त घटनाओं, दृश्यों, कथाओं आदि को अत्यन्त वैयक्तिक ढंग से चित्रित किया है। शोध और व्याख्या का मिश्रण इसमें दिखायी पडता है। इतिहास की व्याख्या में व्यक्तिवादी आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण सही नहीं होता है। द्विवेदी जी इतिहास और संस्कृति की घटनाओं को परिस्थितियों के बीच पात्रों के स्वभावगत विकास को दिखाने में सफल रहे। लेकिन इसके परिणाम चित्रित करने में वे एक 'आत्मनिष्ठ दृष्टा' बन गए। देवीशंकर अवस्थी इतिहास के प्रति इस दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त करते हैं वे लिखते हैं - "इस प्रसंग में अपने देश के उन पुनरुत्थानवादी प्रचारकों की याद आती है जो हर पुरानी रीति की कोई न कोई वैज्ञानिक व्याख्या ढूंढ़ निकालते थे - कान में जनेऊ चढ़ाने से लेकर पैर में बिछिया पहनने तक। अस्तु इस योजना के परिणाम स्वरूप कथा का स्वरूप गुण अनाटकीय, स्थितियात्मक एवं निष्कर्षवादी हो गया है।"[103] साहित्यक कृतियों में लेखक स्वयं निष्कर्ष नहीं देता बल्कि पात्रों एवं चरित्रों का संयोजन ही इस प्रकार करता है कि पाठक निष्कर्ष स्वतः निकाल लेने में समर्थ हो जाता है।

पाठक में यह सामर्थ्य रचना ही पैदा करती है। यद्यपि 'चारुचंद्रलेख' में वातावरण के चित्रण में लेखक को सफलता मिली है लेकिन चरित्रों की नितांत भावुक प्रतिक्रिया उन्हें कमजोर बनाती है। देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि इसके लिए आचार्य द्विवेदी की ऐतिहासिक दृष्टि की अस्पष्टता ही दोषी है जो यथार्थ के समेकित गतिशील रूप को नहीं पकड़ सकी है। यदि लेखक ऐसी कथा लिखता है जिसमें संबंधों के सही अनुपात हों तो ऐतिहासिक सत्य के साथ मानवीय और कलात्मक सत्य स्वयं उभर जाऐगा। अवस्थी जी इस उपन्यास में ऐतिहासिक दृष्टि की कमजोरी को ही पूरे शिल्प की कमजोरी बताते हैं। जहाँ से कला के अनुभव बनते हैं वह दृष्टि बिन्दु सही हो तो समूचा शिल्प सही रूप धारण करता है।

इतिहास की कथा को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में अतीत और वर्तमान के संबंध-सूत्रों का विकास चेतना के प्रवाह क्रम में कम लेखक के बौद्धिक

---

[103] वही, पृ 109

प्रयास का परिणाम ज्यादा हैं इसीलिए यह अत्यधिक सामान्य रूप में आया है और कथा का समूचा ढाँचा कमजोर हो उठा है। देवीशंकर अवस्थी ने आचार्य द्विवेदी की अतीत और वर्तमान की द्विधाविभक्ति की रेखांकित करते हुए लिखा -

> *"हजारीप्रसाद द्विवेदी की कथा कल्पना की सारी कठिनाई उस द्विधाविभक्ति की है जिसमें वह अतीत के प्रति प्रमाणित बने रहते हुए भी पूरे के पूरे वर्तमान समाज का रूपांतरण करना चाहते हैं। अपने सामाजिक बोध के आधार पर अतीत को देखना एक बात है ओर अतीत की ऐसी व्याख्या की चेष्टा कि जिसमें पूरा का पूरा वर्तमान वहीं प्रतिष्ठित हो जाए - गुणात्मक रूप से भिन्न दूसरी बात है।... इतने बड़े लक्ष्य तथा फलक के लिए जिस प्रकार की कलादृष्टि और कथा संगठन की अपेक्षा थी, वह संभव नहीं हो सका। कथ्य का सारा ढाँचा चरमरा ही नहीं उठा है, वर्तमान के रूपांतरण के नाम पर एक प्रकार का अरूपीकरण (ऐक्टट्रैक्शन) प्रमुख हो गया है।"*[104]

देवीशंकर अवस्थी किसी सैद्धांतिक पुस्तक की रचना नहीं करते, उनकी रचनाओं में व्यवहार से सिद्धांत और सिद्धान्त से व्यवहार की प्रकिया एक-दूसरे की ओर बढ़ती है। उनके सैद्धांतिक निबंध न तो नितांत सैद्धान्तिक है और न ही उनमें जड़ता है। वैसे ही व्यावहारिक समीक्षात्मक निबंधों में सिर्फ कुछ उपकरणों को तयशुदा मानक नहीं बनाया गया है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के निबंधों में उनकी आलोचना पद्धति की विश्वदृष्टि स्पष्ट रूप से प्रभावी रहती है। ध्यान रहे 'विश्व दृष्टि' का तात्पर्य विचारधारा से नहीं है और देवीशंकर अवस्थी साहित्य को थोपी गयी विचारधारा से मूल्यांकित करने में विश्वास नहीं करते। गोल्डमान के अनुसार "विश्व-दृष्टि एक निश्चित काल खण्ड में एक वर्ग के विचार अनुभूति और व्यवहार की समग्रता में प्रकट होती है।"[105] देवीशंकर जी की साहित्यिक मान्यताएं और उनका व्यावहारिक परीक्षण कृतियों की समीक्षा के कम में उसी रूप में व्यक्त हुई हैं।

---

104 वही, पृ 110

105 उद्घृत, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' मैनेजर पाण्डेय, पृ.159

इस प्रकार देवीशंकर अवस्थी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि "आलोचना में वे किसी भी विभाजनवादी दृष्टि से ग्रस्त नहीं होते, बल्कि उससे निरंतर संघर्ष करते मिलते हैं। वे पुरानी आलोचना-दृष्टि से रार ठानते हैं, लेकिन पुराने साहित्य से नहीं। वे भक्ति-साहित्य के भी अच्छे अध्येता हो सके तो इसीलिए कि उनकी समकालीन साहित्य का मर्म पहचानने की दृष्टि अचूक है। वे साहित्य की विधाओं की प्रकृतिगत भिन्नता की कद करने के हिमायती हैं लेकिन उनमें से किन्हीं को भी एक-दूसरे के विरोध में रखने या एक दूसरे से छोटा-बड़ा करके देखने की कोई जरूरत नहीं समझते। यहाँ तक कि कई बार वे प्रकृत्यात्मक स्तर पर भी किए गए विभाजनों को भी बहुत तरजीह नहीं देते, चाहे वह भक्ति काव्य का निर्गुण-सगुण संबंधी विभाजन हो या फिर आधुनिक काव्य का प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, संबंधी विभाजन हो"[106]

हिन्दी आलोचना में अब तक कविता केन्द में थी उसके केन्द्र में कथात्मक गद्य को लाने का कार्य देवीशंकर अवस्थी के आलोचनात्मक प्रयासों की महत्वपूर्ण सफलता है। वे कृति की आंतरिक संगति की एकता के अध्ययन से साहित्य के मूल्यांकन की जिस प्रणाली का विकास करते हैं वह एक ओर आलोचना की चली आ रही परम्परा में विस्फोट है तो दूसरी ओर नवीन युग की माँग के अनुसार आलोचना के प्रतिमान निर्माण का प्रयास। उनकी आलोचना पद्धति में विवेक की वस्तुपरकता दिखायी पड़ती है और यही वस्तुपरकता ही उनकी आलोचना को विश्वसनीय बनाती है।

---

106 'आलोचना का विवेक', (सं.) राजेन्द्र कुमार, पृ.xii

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी आलोचना की परंपरा और विकास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आलोचना रचना के समानान्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य कृतियों के मूल्यांकन में निहित है। मूल्यांकन की चेतना सांस्कृतिक दृष्टि और विचारशीलता से जुड़ी होती है जिसमें युग सापेक्ष परिवर्तन होता चलता है। मार्क्स ने सामाजिक विकास के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास कहा है अगर उन्हीं के शब्दावली में बात की जाए तो कहा जा सकता है कि आलोचना के विकास का इतिहास वैचारिक संघर्ष का इतिहास है। ऐसा वैचारिक संघर्ष जो हिन्दी समाज की बदलती मूल्य–चिन्ता के साथ साहित्यिक कृतियों के विवेचन–विश्लेषण के क्रम में हुआ है। इस वैचारिक संघर्ष के विविध रूप हमें हिन्दी आलोचना में दिखाई पड़ते हैं। भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में यह पत्रकारिता तथा पुस्तक समीक्षाओं के रूप में है तो छायावाद और उसके बाद की आलोचना में साहित्य और समाज की सैद्धान्तिक मान्यताओं एवं कृतियों की व्यावहारिक समीक्षाओं में निहित है। हिन्दी आलोचना के स्वरूप के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि अपने ऐतिहासिक विकास क्रम में आलोचना ने साहित्य को समाजोन्मुख तो बनाया लेकिन उसके मूल्य–चिन्ता के स्वरों का संबंध विविधतापूर्ण समाज के साथ स्थापित नहीं हो सका। साहित्य और आलोचना के मूल्यों पर समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा और संस्कृति का प्रभाव बना रहा। उदाहरणस्वरूप भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन आलोचना के प्रतिमानों पर सवर्ण हिन्दू समाज के मूल्यों का प्रभुत्व स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। खैर,

चौथे दशक से हिन्दी आलोचना में संक्रांति का दौर शुरू होता है और आलोचना के प्रतिमानों में बदलाव के साथ साहित्य की मूल्य–चिन्ता के स्वर भी बदलते हैं। प्रगतिशील हिन्दी आलोचना की शुरूआत इसी दशक से होती है। पाचवाँ दशक विविध

सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक बदलावों का दशक है तो छठवाँ दशक उन बदलावों से निकट के साक्षात्कार का। देश की आजादी का यथार्थ सभ्यता के विकास क्रम में एक महत्वपूर्ण घटना है। आजादी के बाद जीवन–मूल्यों में घटित हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप साहित्य की प्रकृति में जो बदलाव आया। वह साहित्य की चली आ रही परंपरा में नयेपन का विस्फोट तो था ही आलोचना के नवीन प्रतिमानों की मांग भी उस नयेपन का एक हिस्सा थी। हिन्दी आलोचना इस समय नया अर्थ ग्रहण करती है। निर्णय, गुण–दोष विवेचन से आगे बढ़कर अब वह रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण का दायित्व भी सम्भालती है। इस तरह नयी रचनाशीलता के मूल्यांकन के क्रम में 'वाद–विवाद संवाद' की परंपरा का विकास होता है। साहित्य में आ रहे इस नयेपन को तत्कालीन हिन्दी की 'एकेडेमिक आलोचना' (जो साहित्य में 'रसवादी' और 'आनन्दवादी' मूल्यों को महत्व देती थी) ने खारिज किया और साहित्य के नए स्वरूप तथा नवीन रचनाशीलता की प्रकृति को 'विदेशी कलम' की चीज़ बताया। नवीन रचनाशीलता जो नवीन यथार्थ बोध की उपज थी, उसके प्रति हिन्दी की 'ऐकेडेमिक आलोचना' का रवैया नकारात्मक ही बना रहा।

'नयी कविता', 'नयी कहानी' और 'नवलेखन' के इसी दौर से देवीशंकर अवस्थी के आलोचना कर्म की शुरूआत हाती है। वे नई रचनाशीलता की पीढ़ी से जुड़े रहकर उसे महत्व प्रदान करने वाले आलोचक हैं। उन्होंने साहित्य के विकास को इतिहास और परंपरा की निंरतरता में देखा और नये साहित्य की ऐतिहासिक अनिवार्यता को स्पष्ट किया। अवस्थी जी ने साहित्य के नये स्वरूप पर ऐकेडेमिक आलोचना द्वारा लगाए गए आरोपों का जवाब दिया और साहित्य की नई प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के क्रम में ही उन्होंने प्रयोगवाद, नई कविता पर अतिबौद्धिकता, अतिवैयक्तिकता और असामाजिकता के आरोपों को खारिज किया। वे साहित्य में नयेपन को सामाजिक विकास और परिवर्तन का परिणाम मानते हैं तथा उसकी नवीन लय को समझने के

लिए सामाजिक विकास की 'डाइलेक्टिक्स' को जानने पर जोर देते हैं। जाहिर है, इसी के आधार पर वे रचनाओं का मूल्यांकन भी करते हैं।

नयी चीजों को स्वीकारने का साहस और परंपरा की निरंतरता में विश्वास, ये दो ऐसे बिन्दु हैं, जो देवीशंकर अवस्थी की आलोचना पद्धति को निर्णायक रूप से प्रभावित करते हैं। इन्हीं के सहारे वे रचना में साहित्यिक मूल्यों की खोज करते हैं। साहित्यिक मूल्यों की इस खोज प्रक्रिया में 'रचना' केन्द्र में होती है और उसी के माध्यम से वे कला के मूल्यों की सामाजिक सापेक्षता तक जाते हैं। रचना को केन्द्र में रखकर विवेचित करने की यह प्रणाली संरचनावादियों की कृति केन्द्रित आलोचना से इस रूप में भिन्न है कि इसमें रचना के संदर्भ की कहीं भी उपेक्षा नहीं होती।

आलोचना की चली आ रही परंपरा में देवीशंकर अवस्थी जिस पद्धति और प्रणाली का प्रस्ताव लेकर आते हैं, वह कलावादी, आनंदवादी मूल्यों के आग्रहों तथा साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद बनाने वाले प्रचारवादी नारों से भिन्न है। वे इन दोनों मूल्यांकन प्रणालियों के बीच संतुलन का मार्ग निकालते हैं, जहाँ साहित्य अपनी विशिष्टता के साथ ज्ञान भी है, और आनंद भी। देवीशंकर अवस्थी साहित्य के मूल्यांकन में विचारधारा के आरोपण का विरोध करते हैं पर विरोधी होकर भी वे साहित्य के विवेचन में एक विचारधारा से परिचालित हैं जिसे वे भाववाद और भौतिकवाद के संतुलन के रूप में देखते हैं। 'संतुलन', 'समग्रता' और 'संकुलता' उनकी आलोचना के बीज़ शब्द हैं और इन्हीं के सहारे वे रचना की साहित्यिकता और रचनाकार की कला–दृष्टि की खोज करते हैं।

देवीशंकर अवस्थी आलोचना में रचना से गहरी संपृक्ति की माँग करते हैं। कृति के साथ–साथ रचनाकार के कच्चेमाल–'जीवन' से जुड़ने का आग्रह भी उनकी आलोचना में दिखायी पड़ता है। इसी के साथ वे रचनाकार की ईमानदारी और आलोचक की समझदारी का निर्धारण करते हैं जहाँ आलोचना दोयम दर्जे का कार्य न

रहकर रचनात्मक साहित्य के साथ जीवन्त संवाद करने वाली प्रक्रिया के रूप में सामने आती है। 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' की बोधगम्यता के प्रश्न को विकास की 'डाइलेक्टिक्स' से जोड़ते हैं।

हिन्दी आलोचना में अब तक कविता केन्द्र में थी उसके केन्द्र में कथात्मक गद्य का आना इस दौर की आलोचना की महत्वपूर्ण विशेषता है। देवशंकर अवस्थी के आलोचनात्मक प्रयासों की इसमें निर्णायक भूमिका है। वे कृति की आंतरिक संगति की एकता के अध्ययन से साहित्य के मूल्यांकन की जिस प्रणाली का विकास करते हैं वह एक ओर आलोचना की चली आ रही परम्परा में विस्फोट है तो दूसरी ओर नवीन युग की माँग के अनुसार आलोचना के प्रतिमान निर्माण का प्रयास। रचना की रूपबंध मीमांसा पर जोर देकर कहानी के शिल्प और यथार्थ की पहचान करते हुए देवीशंकर इस बात से सहमत हैं कि प्रत्येक युग रचना को केवल 'वस्तु' ही मुहैय्या नहीं कराता बल्कि रचनाकार युग संदर्भों में शिल्प के साँचे को भी तलाशता है। वे नयी कहानी में चल रहे ग्राम कथा बनाम शहरी कथा के विवाद को उचित नहीं मानते, बल्कि यथार्थ को उसके समूचेपन में देखने की बात करते हैं। उनका विचार है कि अनुभूति की पकड़ भावों को किसी ग्राम या शहर में नहीं बाँटती, वह जिन्दगी के मूड्स को पकड़ती है। इसी आधार पर वे 'नयी कहानी' और सन् 60 के बाद की कहानी के अंतर को लेखक के यथार्थ के प्रति बदलते अलग–अलग रुखों के अंतर के रूप में देखते हैं और 'साठ' के बाद की कहानियों में परिस्थिति तथा पात्रों के बीच तार्किक असाम्यता का संबंध समाज की भयावह स्थितियों से जोड़ते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना की परंपरा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, सुरेन्द्र चौधरी और नामवर सिंह जैसे आलोचकों ने हिन्दी समीक्षा को बौद्धिक संवेदनात्मक आधार देकर आधुनिक युग में उसे सही प्रस्थान बिन्दु प्रदान किया। लेकिन समय के साथ निरन्तर सार्थक यात्रा कर पाने का कार्य कठिन होता है और इसी बिन्दु पर नई समीक्षा का

हिन्दी आलोचना में प्रवेश होता है। वह जीवन, रचनाशीलता और समीक्षा में अन्तर्संबंध स्थापित करने का प्रयास करती है तथा इस तरह अपनी सीमाओं के वावजूद जीवन्त और सचेत है। नयी समीक्षा की यह सचेतनता देवीशंकर अवस्थी के आलोचना में दिखाई पड़ती है। अवस्थी जी नवलेखन के सबसे बड़े समीक्षक के रूप में उभरते हैं। वे समाज में आने वाले नयेपन को साहित्य में पहचानने के प्रति व्याकुल थे। सन् साठ के बाद हिन्दी कहानी के मूल्यांकन में उनकी यह विकलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। देवी शंकर अवस्थी की समीक्षा पद्धति की परम्परा का विकास अगर परवर्ती हिन्दी आलोचना में देखें तो वह मलयज की विश्लेषण पद्धति में दिखाई देती है। इधर के समीक्षकों में अशोक वाजपेयी की समीक्षा पद्धति का संबंध उनकी खुली समीक्षा से जोड़ा जा सकता है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना पद्धति की विशेषता उनकी आलोचना में विवेक की वस्तुपरकता में दिखायी पड़ती है और यही वस्तुपरकता ही उनकी आलोचना को विश्वसनीय बनाती है।

ग्रंथानुक्रमणिका

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार–ग्रंथ

अवस्थी, देवीशंकर — 'रचना और आलोचना'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

सहायक–ग्रंथ

अग्रवाल, पुरुषोत्तम : 'तीसरा रुख़'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

अवस्थी, देवीशंकर : 'आलोचना और आलोचना'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

अवस्थी, देवीशंकर : 'आलोचना का द्वंद्व',
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

अवस्थी, देवीशंकर : 'विवेक के रंग'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

अवस्थी, देवीशंकर : 'साहित्य विधाओं की प्रकृति'
राधाकृष्ण, नई दिल्ली, 1998

अवस्थी, देवीशंकर : 'हिन्दी कहानी : संदर्भ और प्रकृति'
राजकमल प्राकाशन, नई दिल्ली, 2006

कुमार, रमेश : 'नवजागरण और हिन्दी आलोचना'
नेहा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

कुमार, राजेन्द्र (सं.) : 'आलोचना का विवेक'
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

गुप्त, मैथिलीशरण : 'भारत–भारती'
साहित्य सदन प्रकाशन, झाँसी, 2007

चतुर्वेदी, रामस्वरूप : 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'
लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

चौधरी, सुरेन्द्र : 'हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति'
अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009

चौधरी सुरेन्द्र : 'हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ'
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

जैन, नेमिचंद : 'अधूरे साक्षात्कार'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

तलवार, वीर भारत : 'रस्साकशी'
सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

तलवार, वीर भारत : 'सामना',
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

त्रिपाठी, अरविन्द : 'आलोचना की साखी'
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

त्रिपाठी, अरविन्द (सं.) : 'आलोचना के सौ बरस' खंड 3'

शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2003

त्रिपाठी, विश्वनाथ : 'हिन्दी आलोचना'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

त्रिपाठी, विश्वनाथ : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास–सामान्य परिचय'
एन.सी.ई. आर.टी., नई दिल्ली, 2003

दास, श्याम सुन्दर : 'साहित्यालोचन'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : 'अशोक के फूल'
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास'
रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

नवल, नंद किशोर : 'हिन्दी आलोचना का विकास'
रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

पचौरी, सुधीश : 'उत्तर यथार्थवाद'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

पचौरी, सुधीश : 'नयी कविता का वैचारिक आधार'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

पाण्डेय, मैनेजर : 'आलोचना की सामाजिकता'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

पाण्डेय, मैनेजर : 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका'
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, 2006

प्रसाद, जयशंकर : 'काव्य कला और अन्य निबंध'
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

प्रेमचंद : 'साहित्य का उददेश्य'
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

वाजपेयी, नंद दुलारे : 'हिन्दी साहित्य बींसवी शताब्दी'
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

मलयज : 'कविता से साक्षात्कार'
संभावना प्रकाशन, हापुड, 1979

मिश्र, सत्य प्रकाश (सं.) : 'भारतेन्दु के श्रेष्ठ निबंध'
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002

मुक्तिबोध : 'एक साहित्यिक की डायरी'
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2002

मुक्तिबोध : 'नयी कविता का आत्म संघर्ष'
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

मुद्राराक्षस : 'आलोचना का समाजशास्त्र'
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2004

यायावर, भारत (सं.) : 'महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खंड–2'

किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

यायावर, भारत (सं.) : 'साहित्य विचार'
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997

रौशन अभिषेक : 'बाल कृष्ण भटट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरंभ'
अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009

शर्मा, रामविलास : 'आस्था और सौंदर्य'
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

शर्मा, रामविलास : 'नयी कविता और अस्तित्ववाद'
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

शर्मा, रामविलास : 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना'
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

शुक्ल, रामचंद्र : 'चिन्तामणि' प्रथम भाग
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

शुक्ल, रामचंद्र : 'विश्व प्रपंच'
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संवत् 2019 वि.

शुक्ल, रामचंद्र : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

साही, विजयदेव नारायण : 'छठवाँ दशक'
हिन्दुस्तानी प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

सिंह, नामवर : 'आधुनिक सात्यि की प्रवृत्तियां'
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

सिंह, नामवर : 'इतिहास और आलोचना'
रामकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006

सिंह, नामवर : 'कविता के नए प्रतिमान'
रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

सिंह, नामवर : 'कहानी नयी कहानी'
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005

सिंह, नामवर : 'दूसरी परंपरा की खोज'
रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

सिंह, नामवर : 'हिन्दी का गद्य पर्व'
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

पत्रिकाएँ

- आलोचना त्रैमासिक, अप्रैल–जून 2001, प्रधान संपादक – नामवर सिंह, संपादक, परमानंद श्रीवास्तव
- आलोचना त्रैमासिक, अप्रैल–जून, 2002 – नामवर सिंह, संपादक, परमानंद श्रीवास्तव
- आलोचना त्रैमासिक, सहस्राब्दी अंक उन्नीस–बीस, 2005 – नामवर सिंह, संपादक, परमानंद श्रीवास्तव
- 'सृजन परिप्रेक्ष्य', शिशिर बसंत– 2002, संपादक–कव्यायनी, सत्यम

- 'अकार', रजत जयंती अंक 25 अप्रैल 2009 से जुलाई 2009, संपादक – गिरिराज किशोर
- 'पहल' अंक – 77, संपादक ज्ञानरंजन, जबलपुर, मध्यप्रदेश
- 'संवेद', अंक 17, संपादक किशन कालजयी, नई दिल्ली